

पुस्तक-वार्ता

द्वैमासिक समीक्षा पत्रिका

अंक : 33 मार्च-अप्रैल 2011

संपादक

भारत भारद्वाज

सहायक संपादक

जयपाल सिंह



ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

पुस्तक-वार्ता

अंक : 33 मार्च-अप्रैल 2011

प्रकाशक :

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पो. मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा (महाराष्ट्र)-442001
फोन : 07152-232200, 230906
तार : हिन्दीविश्व

संबंधित लेखकों द्वारा पत्रिका में प्रकाशित विचारों से विश्वविद्यालय और संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।
विवाद की स्थिति में न्यायक्षेत्र दिल्ली।

एक अंक : ₹ 20

वार्षिक सदस्यता : ₹ 120

दिल्ली से बाहर के चेक के लिए वार्षिक ₹ 145 रु. और द्वैवार्षिक ₹ 265। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।
चेक/ड्रॉफ्ट कृपया क्षेत्रीय विस्तार केंद्र (दूरस्थ शिक्षा), म.गां.अ.हि.वि., नई दिल्ली के नाम से भेजें।

संपादकीय, बिक्री और वितरण केंद्र

प्रकाशन विभाग,
क्षेत्रीय विस्तार केंद्र (दूरस्थ शिक्षा)
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
ब्लॉक-सी/60, प्रथम तल, शिवालिक, मालवीय नगर, नई दिल्ली-110017
टेली-011-26677365 E-mail : Pustakvarta@indiatimes.com
011-41683875 मो.-09313034049 (संपादकीय)
E-mail : bhardwaj_bharat@yahoo.com

PUSTAK-VARTA

A Bi-monthly journal of Book Reviews in Hindi
Published by Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya,
Post-Manas Mandir, Gandhi Hills, Wardha-442001 (Maharashtra)

छपाई : रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 (09212796256)

आवरण-सजा : साँची अग्रवाल

अनुक्रम

संपादकीय	: भुवनेश्वर : मिथक और यथार्थ	4
उपन्यास	: उलझी रेखाएँ दुःख की/ वन्दना मिश्रा	7
	: जंगल के दावेदार/ राजकुमार सैनी	8
	: इन दोउन राह न पाई/ सुशील सिद्धार्थ	10
	: पश्चिम बंग की सीमांत धरती पर सुलगते जनाक्रोश की कथा/ पुष्पपाल सिंह	11
	: सीदपुर नहीं, स्वदेश की कथा/ मीनूमंजरी	13
कहानी	: सांप्रदायिकता के जख्म पर/ मोहनकृष्ण बोहरा	14
कविता	: नई काया में विसर्जित और निमज्जित होती कविता/ ओम निश्चल	16
	: हाशिए की पीड़ा का आख्यान/ नीरज	19
	: बेहिसाब बोलती खामोशी/ सुनीता गुप्ता	22
	: भक्ति आंदोलन और कविता/ रणजीत साहा	24
	: सांस्कृतिक प्रतिरोध की रणनीति/ श्याम कश्यप	26
आलोचना	: शाश्वत और सामयिक के बरअक्स समकालीन विमर्श/ रेवतीरमण	29
	: कहानीकार की समाज विवेचना/ माधव हाड़ा	31
स्मरण	: नागेश्वर लाल को याद करते हुए/ अजय वर्मा	33
आत्मकथा	: स्मृतियों के संबल से भविष्य की बुनावट/ प्रीति सागर	36
आत्मकथा	: विचारों की परख और मुक्तिकामी दर्शन/ ब्रह्मानंद	38
ग्रंथावली	: वर्तमान की नींव का ज्ञान/ योगेश प्रताप शेखर	40
नेपथ्य	: रचना का नेपथ्य/ मधुरेश	42
डायरी	: विश्वग्राम में नंदीग्राम/ उपेन्द्र यादव	45
विविध	: तीसरी आंख का सच/ सुनील कुमार यादव	47
पुरखों के कोठार से	: फकीरों में नवाब, गिरहकट, अघोरी साधक : भुवनेश्वर/ भारत यायावर	49
समय-जुलाहा	: भीमसेन जोशी : जन-जन की अनहद/ कुबेर दत्त	53
हस्तक्षेप	: 'रूम का अंतर्द्वंद्व और अंतर्विरोध	55

भुवनेश्वर : मिथक और यथार्थ

भु

भुवनेश्वर (1910-1957) हिन्दी साहित्य में मुख्यतः एकांकी नाटककार के रूप में जाने जाते रहे हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने ग्रंथ 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में आधुनिक काल में नाटक के विकास की चर्चा करते हुए लिखा है, "अब इधर हिंदी के कई अच्छे कवियों और नाटककारों ने भी कुछ एकांकी नाटक लिखे हैं जिनका एक अच्छा संग्रह 'आधुनिक एकांकी नाटक' के नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमें श्री सुदर्शन, रामकुमार वर्मा, भुवनेश्वर, उपेंद्रनाथ अशक, भगवतीचरण वर्मा, धर्मप्रकाश आनंद, उदयशंकर भट्ट के क्रमशः राजपूत की हार, दस मिनट, स्ट्राइक, लक्ष्मी का स्वागत, सबसे बड़ा आदमी, दीन तथा दस हजार नाम के नाटक संगृहीत हैं।" (पृ. 379 अठाहरवां पुनर्मुद्रण सं. 2035) आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि भुवनेश्वर को एकांकी नाटककार के रूप में स्वीकृति मिल चुकी थी। लेकिन भुवनेश्वर की सृजनात्मकता का विस्फोट कहानी के क्षेत्र में भी हुआ था। यदि हिंदी कथा-साहित्य के इतिहास में भुवनेश्वर का उल्लेख नहीं किया गया तो यह कहानी—इतिहासकार की भूल थी कि उन्होंने अपने विवेक का परिचय नहीं दिया; लेकिन भुवनेश्वर कहानीकार के रूप में इससे ओझल नहीं हो जाते। भुवनेश्वर ने कहानियां भी लिखी हैं और ये कहानियां हिंदी कहानी के विकास से कटी हुई नहीं हैं बल्कि जुड़ी हुई हैं। ये कहानियां हाशिये की कहानियां नहीं हैं बल्कि हिंदी कहानी के बीच की कहानियां हैं। भुवनेश्वर की कहानियों का महत्त्व इस बात से भी प्रकट होता है कि प्रेमचंद जैसे महत्त्वपूर्ण कथाकार ने न केवल भुवनेश्वर की कहानियों पर लिखा बल्कि उनकी कहानी 'मौसी' को अपने एक कहानी-संकलन में संगृहीत भी किया। अपनी असहमति के बावजूद उन्होंने इस कहानी की अनुशंसा करते हुए लिखा : "भुवनेश्वर की रचनाओं में कला का आभास है। यद्यपि उन पर पाश्चात्य प्रभाव छिपे नहीं रह सके हैं। आपकी शैली जैनेंद्र के रास्ते पर चलती नजर आती है। पर जैनेंद्र की भाषा की शिथिलता इसमें अनुपस्थित है।" (सप्त सरोज : भूमिका, पृ. 25-26) प्रेमचंद ने इस टिप्पणी में भुवनेश्वर की कहानियों में कला का आभास तो देखा ही है, जैनेंद्र की भाषा की शिथिलता से उसकी पृथकता का संकेत भी किया है।

भुवनेश्वर की कुल जमा छः कहानियां—(1) भेड़िये, (2) सूर्यपूजा, (3) लड़ाई, (4) हाय रे मानव हृदय, (5) मौसी, और (6) मां-बेटे उपलब्ध हैं। गिरीश रस्तोगी के अनुसार उनकी दो और कहानियां हैं—'एक रात' और 'मास्टरनी' (भुवनेश्वर, मोनोग्राफ, ले. गिरीश रस्तोगी)। इन्हीं कहानियों के बल पर भुवनेश्वर ने एक कथाकार के रूप में अपनी प्रतिष्ठा अर्जित की है। जिस तरह भुवनेश्वर की जन्म-तिथि और मृत्यु-तिथि को लेकर घोर विवाद है, उसी तरह उनकी कहानियों के रचना-काल को लेकर भी। लेकिन उनकी अधिकांश कहानियां 1930-40 के दौरान लिखी गई हैं। इसके कई प्रमाण हैं। प्रेमचंद ने उनकी कहानी 'मौसी' का संकलन 1936 के पूर्व किया था। डॉ. शुकदेव सिंह के अनुसार 'मां-बेटे' कहानी 1936 में लिखी गई थी (सं. भुवनेश्वर की रचनाएं, पृ. 10) 'भेड़िये', कहानी का पुनर्मुद्रण करते हुए 'युवा पर्व' में विजय मोहन सिंह ने लिखा है "आज लगभग यह सुखद संयोग प्रतीत हो सकता है कि बहुत-से लोग भुवनेश्वर की इस कहानी या उनकी दूसरी कहानियों के बारे में यह मानने को तैयार भी न हों कि वह 1930 और 1940 के बीच लिखी गई थीं।" भुवनेश्वर के समकालीन प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक डॉ. रामविलास शर्मा से, भुवनेश्वर की कहानियों के रचनाकाल के बारे में जानने की जब जिज्ञासा मैंने प्रकट की तो उन्होंने लिखा : "भुवनेश्वर की एकाध कहानी संभवतः 'हंस' में छपी थी। कब, ठीक याद नहीं। वह सन् 36 के आसपास एकांकी नाटक, कहानियां वगैरह लिख रहे थे।" (डॉ. शर्मा का पत्र दिनांक 29-3-81) डॉ. शर्मा ने अपनी सद्य प्रकाशित पुस्तक 'पंचरत्न' में संकलित संस्मरण



‘भुवनेश्वर प्रसाद’ में भी लिखा है—‘रूपाभ’ और ‘हंस’ के लेखकों में वे थे।’ (पृ. 69)। इन दोनों पत्रिकाओं का प्रकाशन 1930-40 के बीच हुआ। ‘हंस’ का प्रकाशन 10 मार्च, 1930 और ‘रूपाभ’ का प्रकाशन 1938 में हुआ। मैं समझता हूँ कि इन साक्ष्यों के आधार पर भुवनेश्वर की कहानियों का रचनाकाल मोटे तौर पर 1930-40 मान लेने में विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

हिंदी में मात्र कुछ कहानियाँ लिखकर चर्चित हो जाने वाले कथाकारों में पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी के बाद भुवनेश्वर का नाम संभवतः दूसरा होगा। प्रेमचंदोत्तर कथा-साहित्य में कथाकार के रूप में भुवनेश्वर की पहचान देर से हुई। मेरी नजर में इसका एक प्रमुख कारण भुवनेश्वर द्वारा अपने इर्द-गिर्द रचा गया मिथ है जिसके कारण परवर्ती कथाकारों ने उन्हें सीरियसली नहीं लिया। भुवनेश्वर में प्रतिभा थी, जब तक जिंदा रहे जो कुछ लिखा चर्चित हुआ। जब नहीं रहे उनकी मृत्यु को भी मिथ मान लिया गया। एक अर्से तक भुवनेश्वर हिंदी कथा-समीक्षकों की नजर से ओझल रहे। साठोत्तरी पीढ़ी के कथाकारों ने भुवनेश्वर की खोज की और उन्हें हीरो बनाना चाहा, लेकिन तब तक हिंदी कहानी आगे निकल गई थी।

भुवनेश्वर की कहानियों पर विचार करने के पूर्व उस दौर की आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक पृष्ठभूमि पर गौर करना जरूरी है जब वे कहानियाँ लिख रहे थे। यह यहां उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि भुवनेश्वर की उम्र उस वक्त (1930-40) 20-30 के बीच थी। 1930 के बाद का काल वह काल था जब भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में एक गुणात्मक परिवर्तन आरंभ हुआ। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की सुधारवादी मध्यवर्गीय राजनीति से निराश भारतीय जनता, बुद्धिजीवी और साहित्यकार वामपंथी दिशा में झुकने लगे। कम्युनिस्ट पार्टी और मजदूरों तथा किसानों के अखिल भारतीय संगठनों के निर्माण से देश में वामपंथी विचारधारा का प्रसार होने लगा। इसने भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में वर्ग-दृष्टिकोण का समावेश कराया। (‘हिंदी आलोचना का विकास’, पृ. 217) दूसरे, कथा-साहित्य में यह प्रेमचंद-युग था जहां आदर्श और यथार्थ पर विवाद छिड़ा हुआ था। भुवनेश्वर की कहानियों की पड़ताल इसी परिप्रेक्ष्य में रखकर की जानी चाहिए।

‘निराला की साहित्य साधना’ में ‘न्यूरोटिक भुवनेश्वर’ पर लिखते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है—“भुवनेश्वर कलाकार थे। धिर जाने पर साफगोई से काम लेते थे। अपनी पूंजी बहुत कम थी। दूसरों से उधार लिए माल पर अपनी विट से पालिश ही कर सकते थे।” (पृ. 290-94) ‘नई कविता और अस्तित्ववाद’ नामक पुस्तक में भी शमशेर पर लिखते हुए डॉ. शर्मा ने प्रसंगवश भुवनेश्वर का उल्लेख करते हुए उनकी आधुनिकता को पश्चिम की पूंजीवादी पतनशील धारा से जोड़ा है। ‘पंचरत्न’ में भी उन्होंने अपनी इस धारणा की पुष्टि करते हुए लिखा है—“भुवनेश्वर जो कुछ लिखते थे, उस पर अंग्रेजियत की गहरी छाप रहती थी। लगता था किसी बढ़िया कृति का अनुवाद पेश कर रहे हों। व्यंजना में ऐसी वक्रता, ऐसा अनूठापन होता था कि लोग सुन कर कहते—आदमी जीनियस है।” (पृ. 70)

‘युवा पर्व’ के अंक में जब भुवनेश्वर की ‘भेड़िये’ का पुनर्मुद्रण विजय मोहन सिंह की टिप्पणी के साथ हुआ तो मैं इस कहानी को लेकर उधेड़बुन में पड़ गया। भुवनेश्वर का नाम तो मैंने जरूर सुना था, उन पर डॉ. शर्मा की टिप्पणी भी पढ़ी थी लेकिन तब तक उनकी कोई कहानी नहीं पढ़ी थी। विजयमोहन जी ने लिखा था—‘भेड़िये’ कहानी का प्रकाशन इस उद्देश्य से भी आवश्यक प्रतीत हुआ कि ‘भेड़िये’ शीर्षक की संकेत गम्भीरता आज जितनी प्रासंगिक है उतनी शायद तब भी नहीं थी जब यह कहानी लिखी गई थी। हिंदी के सही अर्थों में प्रथम आधुनिक एकांकीकार भुवनेश्वर प्रथम आधुनिक कहानी-लेखक भी थे। यह कहानी इस बात को भी प्रमाणित करती है कि भुवनेश्वर की यह कहानी या उनकी अन्य कहानियाँ हिंदी के समकालीन आधुनिक अनेक कथा-लेखकों की तरह सीमित या ‘डेटेड’ नहीं थी। आज लगभग यह सुखद संयोग प्रतीत हो सकता है कि बहुत-से लोग भुवनेश्वर की इस कहानी या उनकी दूसरी कहानियों के बारे में यह मानने को तैयार भी न हों कि वह 1930 और 1940 के बीच लिखी गई थीं। इस संदर्भ में इस कहानी का पुनर्मुद्रण मुख्यतः यह सिद्ध करने के लिए किया जा रहा है कि लोग ठीक-ठीक यह समझ सकें कि हिंदी कहानी की सही और वास्तविक आधुनिकता—तथाकथित छद्म आधुनिकों के दावों के विपरीत कब और किसके द्वारा शुरू हुई थी।” विजय मोहन जी की टिप्पणी में मुख्य बात यह है कि भुवनेश्वर हिंदी के प्रथम आधुनिक कहानी-लेखक थे और आधुनिकता की यह शुरूआत उनके द्वारा चौथे दशक में हुई थी। इस कहानी पर टिप्पणी करने के पूर्व मैं केवल इतना निवेदन करना चाहूंगा कि प्रेमचंद की ‘कफन’ जैसी कहानी—जिसमें आधुनिक संवेदना तो है ही, पूंजीवादी व्यवस्था का एक धिनौना चित्र भी है—भी इसी दौर में लिखी गई थी।

भुवनेश्वर की ‘भेड़िये’ कहानी को पढ़कर मुझे लगा कि सचमुच इस कहानी का बोध ही नहीं—कथ्य, संरचना, शिल्प भी आधुनिक है। ‘भेड़िये’ एक प्रतीक है—सामंती व्यवस्था का और खारू बंजारा उस व्यवस्था का शिकार है यानी शोषित है। इस कहानी में सामंती शोषण के चरित्र को सशक्त रूप में कथा में उठाया गया है। दल का दल भेड़िया आता है और खारू बंजारा और उसका बेटा उसका मुकाबला करता है। इस सामंती व्यवस्था के विरोध में लोग उठकर खड़े हो रहे हैं—यही संकेत है इस कहानी का। ‘मैंने दूसरे ही साल उनमें से साठ भेड़िये और मारे’—खारू ने फिर हंस कर कहा। पर उसके साथ ही उसकी आंखों में एक अनहोनी कठिनता आ गई और वह भूखा, नंगा उठकर सीधा खड़ा हो गया। मुझे यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि इस कहानी की संवेदना आधुनिक है। सचमुच ही यह उच्चकोटि की कहानी है जिसका सामाजिक सरोकार है। इस कहानी की संरचना, भाषा, शिल्प इसे आज की कहानी से जोड़ती है। इस कहानी से भुवनेश्वर की रचनात्मक ऊर्जा का पता चलता है। भुवनेश्वर ‘प्रोग्रेसिव राइटर्स’ से जुड़े थे। डॉ. शर्मा ने लिखा है—‘जिन दिनों निराला इलाहाबाद में प्रगतिशीलों का परिचय प्राप्त कर रहे थे, उन्हीं दिनों प्रोग्रेसिव

राइटर्स एसोसिएशन के सदस्य भुवनेश्वर का लेख छपा—‘श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी ‘निराली’ (निराला की साहित्य साधना, पृ. 290-94)। मैं समझता हूँ कि यह कहानी भुवनेश्वर ने संभवतः उन्हीं दिनों लिखी थी क्योंकि भुवनेश्वर की अन्य कहानियाँ भिन्न मानसिकता की हैं। यह कहानी सचमुच ही ‘संकेत गंभीरता’ के कारण प्रासंगिक है। यह वही सांकेतिकता है जिसे नयी कहानी की विशेषता आगे चलकर डॉ. नामवर सिंह ने बतलाई है (कहानी : नयी कहानी, पृ. 42)। आज लिखी जा रही कहानियों के बीच यदि इस कहानी पर से भुवनेश्वर का नाम हटाकर मिला दिया जाए तो उस पाठक के लिए, जिसने भुवनेश्वर का नाम नहीं सुना है और न पहले यह कहानी पढ़ी है, कहना मुश्किल होगा कि यह आज की कहानी नहीं है।

डॉ. शुक्देव सिंह ने इस कहानी को दूसरे दृष्टिकोण से देखा है—‘भेड़िये’ कहानी में जिस ठोस तरीके और गहरी बेसरोकारी का इस्तेमाल हुआ है वह हिंदी गद्य में आज तक नमूना है। वस्तु के चयन और प्रस्तुति की दृष्टि से यह बहुत ही तेज कहानी है। स्त्रियों के बारे में जिस भावुकताविहीन तटस्थता की प्रस्तुति इस कहानी में है वह हिंदी के लिए बेमिसाल है। जिंदगी के लिए हजार-हजार भेड़ियों से लड़ते हुए एक आदमी के लिए औरत सामान की तरह मामूली हो जाती है (‘भुवनेश्वर की रचनाएं’—पृ. 9-10)। मुझे लगता है डॉ. सिंह ने इस कहानी की प्रतिबद्धता को नहीं बल्कि उसके दूसरे पक्ष को उजागर किया है। उनकी इस बात से मेरे लिए सहमत होना मुश्किल है कि “भुवनेश्वर ने जिंदगी की वास्तविकता की अमानवीयता को चरम सीमा तक अभिव्यक्त करने की कोशिश की है। वास्तविकता, निर्ममता और अलंकारविहीन गद्य के लिए यह कहानी तब से अब तक अकेली और अज्ञात है।” हमें नहीं भूलना चाहिए कि प्रेमचंद ने ‘कफन’ जैसी कहानी भी उसी दौर में लिखी थी। विजय मोहन जी ने और डॉ. सिंह ने भी भुवनेश्वर को प्रथम आधुनिक कहानी-लेखक सिद्ध करने की कोशिश की है। लेकिन सही अर्थ में हिंदी की प्रथम आधुनिक कहानी ‘कफन’ है। ‘कफन’ न केवल सामाजिक सरोकारों की कहानी है बल्कि सामंती शोषण की विभीषिका को अमानवीयता की हद तक मूर्त करने वाली प्रथम आधुनिक कहानी है। डॉ. नामवर सिंह ने ठीक लिखा है कि “ ‘कफन’ को निराशा की कहानी समझना भूल होगी, यह शोषण के प्रति विद्रोह की कहानी है।”

भुवनेश्वर की कहानियों से यह स्पष्ट है कि उन पर पश्चिम की आधुनिकता और प्रच्छन्न रूप में अस्तित्ववाद का असर है। ‘भेड़िये’ कहानी अवश्य अपवाद है। भुवनेश्वर की कहानियों के कथ्य में विविधता है लेकिन सामाजिक यथार्थ कम है, उसी तरह आर्थिक-सामाजिक-शोषण, वर्ग-संघर्ष का चित्र भी। सामाजिक प्रतिबद्धता के रंग कहीं-कहीं हैं।

भुवनेश्वर की कहानियों की भाषा अवश्य चौंकाती है। वाक्य-संगठन ही नहीं, भुवनेश्वर का मुहावरा भी कहानी के परिवेश के मेल में है। कहीं-कहीं भुवनेश्वर की भाषा नई कहानी और साठोत्तरी कहानी का आभास देती है।

भुवनेश्वर की आधुनिकता मूलतः पश्चिम की आधुनिकता है। उनमें कहानीकार की भरपूर क्षमता थी, लेकिन पश्चिम की तथाकथित आधुनिकता के दबाव के कारण कहानी भुवनेश्वर के हाथ से फिसलती रही। भुवनेश्वर की कहानियों में विकास के चिह्न नहीं दीखते। ऐसा लगता है कि कहानी को उन्होंने कैजुयली लिया—सीरियसली नहीं। फिर भी ‘भेड़िये’ कहानी के लिए भुवनेश्वर निश्चित रूप से हिंदी कहानी में याद किए जाते रहेंगे।

इस अंक में अलग से भुवनेश्वर पर भारत यायावर का विस्तृत आलेख भी हम छाप रहे हैं। पाठक देखेंगे कि भुवनेश्वर हमारे समय के न केवल अच्छे नाटककार थे, वस्तुतः परंपरा से हटकर अच्छे कहानीकार भी। हमारी इच्छा थी कि इस अंक में हम डॉ. भगवत शरण उपाध्याय और कवि नेपाली की जन्मशती पर भी कुछ सामग्री देते।

पत्रिका के संपादन-सहयोगी के रूप में शोधार्थी जयपाल सिंह हमसे जुड़ रहे हैं। हम उनका स्वागत करते हैं।

इस अंक के आवरण पृष्ठ पर हम फिर दिल्ली की नवोदित रंगकर्मी साँची अग्रवाल (1993) का रेखांकन दे रहे हैं। नई प्रतिभा को हम आगे भी प्रोत्साहित करते रहेंगे।

वर्षांत और वर्षारंभ दिवंगत लेखकों—डॉ. विनय (30 दिसम्बर, 2010) संगीत-साधक पं. भीमसेन जोशी, पंजाबी के आलोचक सुतिंदर सिंह नूर (उपाध्यक्ष, साहित्य अकादेमी, दिल्ली) और छपते-छपते हमसे बिछुड़े आलोचक डॉ. भवदेव पांडेय (मिर्जापुर) और लेखक-पत्रकार अनिला सिन्हा को हम हार्दिक श्रद्धांजलि देते हैं।

उलझी रेखाएँ दुःख की

वन्दना मिश्रा

पा

प-पुण्य, धर्म-अधर्म, सुख-दुख जैसे दार्शनिक एवं शाश्वत प्रश्नों से सामना कोई सामान्य बात नहीं। जाहिर है इससे कोई सीधी रेखा नहीं बनेगी।

‘दो और दो जोड़ हमेशा चार कहां होता है?’ ये रेखाएँ उलझी ही होंगी।

जीवन जीना और उसके विषय में लिखना हर समय सुखद हो ऐसा ज़रूरी तो नहीं होता। शायद ऐसी कथाएँ विश्वसनीय हो भी नहीं। ज़िंदगी फूलों की सेज तो नहीं। विष्णुचंद्र शर्मा की पुस्तक ‘रेखाएँ दुःख की’ पढ़ते हुए कभी-कभी घबराहट-सी होती है। पर यह अविश्वसनीय नहीं है। यह दर्द जीवन का है। अमृता प्रीतम के शब्दों में कहें तो—“एक दर्द था जो सिगरेट की तरह/मैंने चुपचाप पिया है/सिर्फ कुछ नज़्में हैं/जो सिगरेट की राख की तरह झाड़ी हैं।”

इस पुस्तक में दो उपन्यासिकाएँ हैं जिन्हें मूल विषय की दृष्टि से एक साथ पढ़ा जा सकता है। दुःख की रेखाएँ तथा बिगड़ी तस्वीरों का अलबम दिखानेवाली ये कथाएँ जीवन को ठोस रूप प्रदान करती हैं।

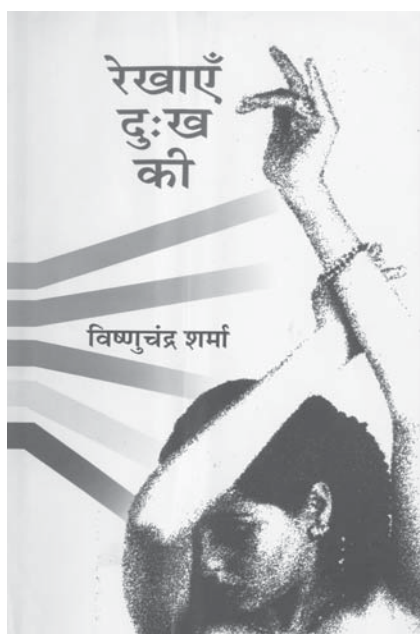
पहली कथा ‘रेखाएँ दुःख की’ डायरी शैली में लिखी गई है। इसमें विपिन, डॉ. पुनीता, उसका पति डॉ. रत्नेश, पुनीता की बहन भावना (जो विपिन के साथ कॉलेज में थी) उसका पति अंधा संगीतज्ञ रूपचंद जो बेहद शंकालु है और भावना का पीछा करने में आसानी हो इसलिए उसे पाजेब पहनाकर कॉलेज भेजता है। भावना को वह जलाकर मारने का प्रयास भी करता है तथा भावना उसे तलाक दे देती है। बाद में भी वह भावना से बदला लेने के लिए उस पर अपनी पत्नी एवं बच्ची को मार डालने का आरोप लगाता है।

फिर पता चलता है कि वह दबंग विश्वकर्मा का एजेंट है और मारा भी जाता है।

रूपचंद का भाई बब्लू एड्स का रोगी होकर मौत के लिए घिसट रहा था। सुमति, जिसके जीजा ने उसे बलात्कार का शिकार बनाया तथा सुजाक जैसा रोग दे दिया अपनी बहन द्वारा भगा दी गई। मौत की तलाश में वह विपिन से टकराती है और कामता बाबा के पास भेज दी जाती है। वहां वह न केवल स्वास्थ्य लाभ करती है बल्कि बब्लू को भी सहारा देती है, मां की तरह। पूरी कथा दुःख के तमाम रूपों से परिचय कराती है। इसके सभी पात्र दुःख से लड़ते हैं जूझते हैं। सुख की परिभाषा ढूंढते हैं। अभावग्रस्त पात्रों में आपस में प्रेम है, त्याग की भावना है। डॉ. पुनीता पूछती है सुख क्या है? विपिन का मानना है “व्यस्त रहने में ही सुख मिलता है। हां सेवा करने या प्रार्थना करने से मन में तनाव नहीं

रहता।” (पृ. 11) सभी पात्र दुःख से भरे हैं परन्तु समाज के दुख को दूर करने की भावना रखते ही शांत हो जाते हैं। विपिन अस्पताल में डॉ. के सामने मरीजों के दुख देखता है— “विपिन युवक को देखता है और सोचता है कितना कम मैं जानता हूँ इस युवक को... दुःख की रेखाएँ कितनी गहरी हैं। और मैं कितना उथला हूँ उन रेखाओं के सामने।” (पृ. 10)

कथा में रमता बाबू का चरित्र अत्यंत उत्कृष्ट, वे एक संगीतकार, कथक के नर्तक, चित्रकार एवं एक चिकित्सक भी हैं। वे भौतिक सुविधाओं से सदैव दूर रहना चाहते हैं। पत्रकारों से दूर, प्रसिद्धि से दूर। यहां तक कि वे आशू बाबू के चुनाव जीतने पर उन्हें फटकारते हैं। वे कहते हैं “जाओ अब तुम्हारा रास्ता संगीत का नहीं राजनीति की दलाली का है।” (पृ. 58) पात्रों के मन के प्रवाह के रूप में लिखी गई कथा का सिरा पकड़ना कठिन है। पूरी कथा दार्शनिक अंदाज़ में लिखी गई है। डायरी शैली में लिखे जाने (वह भी विभिन्न पात्रों द्वारा) के कारण जीवन व कथा का कोई क्रम स्पष्ट नज़र नहीं आता परंतु यहां मार्खेज़ का कथन याद आता है—“जीवन वह नहीं होता जो कोई जीता है बल्कि वह होता है जिसे कोई याद रखता है और दोबारा याद करते हुए, जिस क्रम में उसे वह याद करता है।” (बिगड़ी तस्वीरों का अलबम) दूसरी कथा में नेताओं द्वारा दिखाए गए विकास के सपनों की पोल खोली गई है। उसका एक पात्र साधन यही चाहता है कि विकास की जो तस्वीर आज़ाद देश को दिखाई जा रही है, उसमें गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले शुभा, दया, विद्या, रोहन आदि भी हो।” (पृ. 85) कैफ़ी आज़मी ने लिखा है “उनकी





दुनिया में सभी कुछ है मुसीबत के सिवा/मेरी दुनिया में मुसीबत के सिवा कुछ भी नहीं।”

विष्णुचंद्र शर्मा जी ने जिस दुनिया की तस्वीर रखी है वह हम सभी की दुनिया है। वहां कोई दूसरा या पराया नहीं। मुक्तिबोध के शब्दों में “उस दुनिया ने दुःख के दागों को तमगों सा पहना है।”

“हम सब भाग रहे हैं। अभी अमेरिका ओसामा बिन लादेन की तलाश कर रहा है और जनता डरी हुई है।...बेचैन। रहते हम दहशत में है या अपने को उधेड़ते या बंद करते रहे हैं।” (पृ. 88)

आज की ज्वलन्त समस्याओं से जूझती हैं ये कथाएँ पत्रकारिता की दुनिया का सच “डरा हुआ भारत का पत्रकार जूता भी नहीं उछालेगा।...चाहे आर्थिक मंदी के बहाने पुराने पत्रकारों से कहा जाएगा। इस्तीफ़ा दो और 30% कम वेतन पर काम करते रहो।” (पृ. 69)

कथा, युद्ध के कारणों तालिबान, अमेरिका भारत-पाकिस्तान की समस्याओं आदि से जूझती है तथा कई सूक्तियाँ प्रदान करती है।

कहीं-कहीं वाक्यों का विश्रुंखलन खटकता है। (पृ. 67) कथा भी कहीं-कहीं उलझी हुई-सी लगती है यथा (पृ. 78, 82) परंतु तमाम दुःखद कथाओं व पात्रों की निराश मनःस्थिति के बावजूद निराश नहीं करती पुस्तक, अपनी संघर्षशील प्रकृति के कारण। किसी कवि के शब्दों में कहें तो “दरहकीकत रोशनी की शक्ति का, तीरगी ने ओढ़ रखा है नकाब।” का नाटक नहीं किया है लेखक ने।

कुल मिलाकर यह पुस्तक अपनी सूक्तियों तथा दुःख से दो-दो हाथ करने की शक्ति के कारण याद की जाएगी।

रेखाएँ दुःख की/विष्णुचंद्र शर्मा/भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, मूल्य : ₹ 120

हिन्दी विभाग, जी.डी.विनानी पी.जी.कॉलेज, मिर्जापुर-231001, (उ.प्र.), मो. 9415876779

उ प न य ा स

जंगल के दावेदार

राजकुमार सैनी

क

थाकार रणेंद्र ने आदिवासियों के झारखंड-वासी समूहों के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन को नज़दीक से जाना और पहचाना है। झारखंड एन्साइक्लोपीडिया का उन्होंने संपादन किया है। आदिवासियों तथा वनवासियों के साथ उनका रागात्मक लगाव भी रहा है। उनके जीवन-संघर्षों में वे सहभागी रहे हैं। ‘ग्लोबल गाँव के देवता’ शीर्षक उनका लघु-उपन्यास ऐसे ही ‘असुर समुदाय’ की दुर्धर्ष-संघर्ष गाथा की रचनात्मक प्रस्तुति है।

उपन्यासकार सुझाव देता है कि हमारे देश की आदिम जन-जातियाँ वनों पर आश्रित रहीं हैं। आदिकाल से लेकर आज तक वे वन्य जीवन जीती रहीं हैं किंतु अपने को देवता कहने वाले नगर-वासियों (आदिवासियों के ‘देवराज इंद्र’ से लेकर आधुनिक काल के ‘ग्लोबल गाँव’ के व्यापारियों) ने उनका लगातार दोहन-शोषण और उत्पीड़न किया है। सभ्यता और विकास के नाम पर प्रकृति को रौंदा है; साथ ही प्राकृतिक जीवन जीने वाले निरीह प्रकृत मानव-समुदायों के जीवन के साथ हिंसक, बर्बर, अशिष्ट और अश्लील छेड़छाड़ की है, उनकी आस्था के साथ खिलवाड़ किया है, उनकी परंपराओं को तोड़ा है; उनके जीवन-साधनों और संसाधनों को तहस-नहस किया है और उन्हें शरणार्थियों की स्थिति में ला पटका है। रणेंद्र कहते हैं—“पूर्वजों ने जंगलों की रक्षा करने की ठानी तो उन्हें राक्षस कहा गया। खेती के फैलाव के लिए जंगलों के काटने-जलाने का विरोध किया तो वे दुष्ट दैत्य कहलाए। उन पर आक्रमण हुआ और लगातार खदेड़ा गया।”

यूरोप के गोरों ने अमेरिका और आस्ट्रेलिया के मूल-निवासियों का संहार किया; जो कुछ बचे उन्हें सुदूर खदेड़ दिया; उनकी ज़मीनें हड़प लीं और इस प्रकार लूट-खसोट तथा कल्लेआम के बाद हासिल की गई सम्पत्ति, भूमि और संपदा के आधार पर वहां बस्तियाँ, उपनगर, नगर तथा महानगर बसाए और महानगरीय सभ्यता-संस्कृति का ‘विकास’ किया। लगभग उसी तरह हमारे देश के तथाकथित ‘विकसित सभ्य लोग’ (ग्लोबल गाँव के देवता—व्यापारी लोग) आदिवासियों के जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर रहे हैं।

यह उपन्यास आदिम जन-जातियों और आदिवासियों के जीवन-संघर्ष की रचनात्मक गाथा है। सहज भाषा, सर्जनात्मक शैली और ज्ञानवर्धक विवरण से युक्त यह गाथा वनवासियों के अंतरंग-जीवन के मार्मिक प्रसंगों

ग्लोबल गाँव के देवता



रणेंद्र

को उद्घाटित करती हुई हमारी संवेदना को झकझोरती है और हमसे सक्रिय सहानुभूति की मांग करती है। अपनी जिजीविषा और अस्तित्व के लिए झारखंड के बहाने देश-भर के आदिवासियों का यह आंदोलन महानगर की सहृदय जनता को भी आंदोलित और विचलित करने की क्षमता रखता है। लालचन, डॉक्टर साहब, रुमझुम, मास्टर, ललिता, बुधनी दी, एतवारी के चरित्र भुलाए नहीं भूलते। ये चरित्र प्रामाणिक और विश्वसनीय, सजीव और वास्तविक हैं। उपन्यास पठनीय है और रोचक भी। लेखक का अध्येता मन उसके रचनाकार पर हावी नहीं होता; बल्कि हुआ यह है कि लेखक के अध्ययन ने उसकी रचनाधर्मिता को संवारा है।

उपन्यास में जहां मार्मिक प्रसंग आए हैं उपन्यासकार के अंतर में बैठा हुआ कवि मुखर हो उठा है—“वह ना-ना करती सिर हिला रही थी...मेरी टकटकी लग गई। सब कुछ खोता-सा लगा। कोई शब्द नहीं। ध्वनि नहीं। समय थमा हुआ। देशकाल सब गुम..लगा कि गंदुमी रंग का कोई गुलाब सामने अपनी टहनी पर झूल रहा है...तभी लगा कि यह गुलाब नहीं, हरी-भरी विशाल पहाड़ी है, जिसे गहरे हरे घने जंगल में मैं भटक रहा हूं। फिर लगा कि अभी-अभी चांद नीचे उतरा और साथ में महुआ की डाल पर आ बैठा है। चांद के हिलने से महुआ टपकने लगा टप...टप...टप।” ललिता और मास्टर का यह प्रणय-प्रसंग कथा का सर्वाधिक सरस प्रकरण है। ललिता को मास्टर की देह से किसी अन्य औरत की गंध आती है। यह अन्य औरत ‘एतवारी’ है जो गंदूर की पत्नी है, उसके बच्चों की मां है पर मास्टर को दिल दे बैठी है। ‘एतवारी’ की मास्टर के प्रति यह आसक्ति प्रेम और वासना से लबालब भरी है मास्टर भी उसी तरह देता रहा है। लेकिन जब से उसके जीवन में ‘ललिता’ नामक सुंदर युवती का प्रादुर्भाव हुआ है वह ‘एतवारी’ से कटने लगा है। इसीलिए ‘ललिता’ को ‘मास्टर’ के संग देखते ही ‘एतवारी’ की आंखों से अंगार बरसने लगते हैं। ‘एतवारी’ की आंखें कालांतर में भावशून्य होती गईं। ‘मास्टर’ ने किनारा कर लिया था। वह कुंआरा था और ‘ललिता’

भी कुंआरी थी। ‘ललिता’ जब ‘मास्टर’ के सामने होती तो उसे लगता कि ‘इस सामने बैठे गंदुमी गुलाब ने, महुआ डाल पर बैठे इस छहरे चाँद से ही इस सृष्टि को अर्थ दिए हैं। वरना यह सृष्टि निरर्थक थी। सूरज की लाली, चांदनी की शीतलता, नदियों की गति, धरती का सोंधापन, कोंपलों का गुलाबी रंग, पत्तों की हरियाली, सबके सब इससे मिलकर ही अपनी सार्थकता और अर्थवत्ता पाते हैं।” यह कवि-हृदय ‘मास्टर’ ही उपन्यास का वाचक है और इसीलिए उपन्यासकार का प्रवक्ता प्रतीत होता है।

‘ललिता’ और ‘मास्टर’ का यह प्रेम-प्रसंग एक दुखांत त्रासदी में परिणत होता है। उपन्यास के अंत में हम देखते हैं—

“पता चला कि लैंड माईंस बिछाई गई थी। बातचीत के लिए जाते ललिता, बुधनी दी, गंदूर, एतवारी, लालचन दा के बाबा और पंद्रह लोगों की धज्जियाँ उड़ गई थीं।”

ग्लोबल गाँव के रक्तपायी देवाताओं ने आधुनिक व्यवस्था के परदे में परदानशी होकर बैठे दलाल-व्यापारियों के साथ मिलकर कई आदिवासी गाँवों को लील लिया। समझौते और बातचीत के लिए जाते हुए उनके प्रतिनिधियों को निगल लिया। इस तरह प्रकृति की गोद में शांति की वीन से गूँज रहे हरे-भरे जंगल को उजाड़कर ‘सभ्यता’ और ‘विकास’ का नया ढांचा तैयार किया गया। प्रकृति और उसकी गोद को उजाड़ कर कंक्रीट का एक बनावटी जंगल खड़ा किया गया। इसी नई सभ्यता पर व्यंग्य करते हुए निराला ने लिखा था—‘*दगा की इस सभ्यता ने दगा की...*’

अमेरिका और आस्ट्रेलिया में वहां के मूलनिवासियों को उजाड़ा और खदेड़ा गया; उनका कल्लेआम किया गया और उनके स्थान पर यूरोप के लोग बसते गए; अब भारत में उनके अभिकर्ता व्यापारियों द्वारा भारत के आदिवासियों, वनवासियों और जनजातियों के साथ वही बर्ताव किया जा रहा है। कुल मिलाकर यही प्रकरण इस लघु उपन्यास का प्रतिपाद्य है। उपन्यासकार ने स्वयं ही अमेरिका, आस्ट्रेलिया और भारत में घटी दुर्घटनाओं को उपन्यास के तानेबाने से ध्वनित-प्रतिध्वनित कर आधुनिक सभ्यता

और विकास के तौर-तरीकों पर सवालिया निशान लगा दिए हैं।

रणेंद्र कहते हैं—“मुख्यधारा की लहरें चांद छूने को बेताब थीं। वह लहराती-इठलाती राज्यों की राजधानियों से होती हुई दिल्ली, वाशिंगटन डी.सी. की ओर दौड़ी जा रही थीं।”

उपन्यासकार का निष्कर्ष-कथन है—

मुख्यधारा निगल जाने में ही विश्वास करती है। फ्लैप पर ठीक ही कहा गया है कि देवराज इंद्र से लेकर ग्लोबल गाँव के व्यापारियों तक फैली शोषण की प्रक्रिया को रणेंद्र उजागर कर सके हैं। हाशिए के मनुष्यों के सुख-दुखों को व्यक्त करता यह उपन्यास झारखंड की धरती से उपजी एक विशिष्ट रचना है। विशेष रूप से झारखंड और सामान्यतः भारत के वनवासियों के अनवरत संघर्ष का प्रामाणिक और कलात्मक दस्तावेज़ है।

ग्लोबल गाँव के देवता/रणेंद्र/भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, मूल्य : ₹ 100.00

122, दीन अपार्टमेंट्स, सेक्टर-4, प्लाट नं. 7, झारका, नई दिल्ली-110075, मो. 09810709883

‘पुस्तक-वार्ता’ उपहार योजना

‘पुस्तक-वार्ता’ के नए वार्षिक सदस्य बनने पर पत्रिका के पुराने उपलब्ध अंक भेंट स्वरूप दिए जाएंगे। ‘पु.वार्ता’ का वार्षिक सदस्यता शुल्क ₹ 120 है, चेक से भेजने पर इसमें बैंक कमीशन का ₹ 25 और जोड़ दें।

सदस्यता शुल्क चेक या ड्राफ्ट से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के नाम से इस पते पर भेजें—

क्षेत्रीय विस्तार केंद्र, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, सी-60, प्रथम तल, शिवालिक, मालवीय नगर, नई दिल्ली-110017

दूरभाष : 011-26677365

इन दोउन राहन पाईस

सुशील सिद्धार्थ

क

ई बार हमारा मन सुभाषितों और शुभकामनाओं के बीच ऐसे दृश्य देखता रहता है कि चारों ओर सद्भाव ही सद्भाव है। हम प्रार्थना करते रहते हैं

कि शताब्दियों से चले आ रहे भारतीय समाज के बेचैन करने वाले सवाल कुछ तो हल हों। जब 'वजह बेगानगी नहीं मालूम' जैसा उपन्यास आता है तो पता चलता है कि समय के साथ कारण और रूप बदले हैं मगर प्रश्न किसी कील की तरह गड़ा हुआ है। विनोद कुमार श्रीवास्तव पूर्वांचल के गांव कस्बे के जीवन पर कथा को केंद्रित करते हैं और जीवन की छोटी बड़ी गतिविधियों से यथार्थ को शक्ति देते हैं। उपन्यास में स्वाभाविक रूप से अनेक पात्र हैं, मगर प्रभात, रज्जन और दिलबहार की तिकड़ी इस रचना को कई दिशाओं में ले जाती है। कथानक महज इतना है कि ब्राह्मण, ठाकुर, कायस्थ और चुड़िहार मुसलमान जातियों वाले गांव का सामाजिक संतुलन सहसा डगमगाने लगता है। बात रथयात्रा और अयोध्याकांड से होती हुई जहां ठहरी है वहां ऐसी पीड़ा आकार लेने लगती है—'जब आदमी का पहनना-ओढ़ना, उठना-बैठना, काम-धाम और यहां तक कि इबादत भी सवाल के घेरे में आ जाए तो उसे तुम ऐतराज नहीं मानोगे तो क्या मानोगे, मुझे नहीं मालूम।' रोचक वृत्तांत को समेटे इस उपन्यास की 'सैद्धांतिक संवेदना' को समझने का उपाय भी लेखक ने प्रदान किया है। प्रभात, दिलबहार और रज्जन का पत्राचार गांव या समाज की परेशानियों को विश्लेषित करता है। दिलबहार और रज्जन प्रभात के ननिहाल के दोस्त हैं, बचपन से बड़े होने तक। रज्जन ठाकुर हैं और दिलबहार चुड़िहार। तीनों के रिश्तों की जद्दोजहद में उपन्यास का सारांश है। लेखक ने कथातत्व बरकरार रखते हुए

विमर्श के लिए स्पेस बनाया है। बहस करते पात्र हालांकि कभी सकारात्मक समाधान से मुतमईन नहीं हो पाते, जो कि स्वाभाविक है, फिर भी वे सोचते हैं, 'इतिहास की तथाकथित गलतियों का संशोधन पुराने मुर्दों को मुक्ति देता है या उनकी जगह कब्रों में धुसने को तैयार नए मुर्दों को? और फिर ऐसे में सत्ता मिलती भी है तो किसे? तमाशा बनती जनता को या उनके मदारियों को, जो फिर कभी अपने बंदरों को शायद ही याद करते हों, कि उन्हें भी भूख लगती है या कि उन्हें भी शर्म लगती है अपने नंगे शरीरों से?' विनोद कुमार श्रीवास्तव की रचना पद्धति से पता चलता है कि यह कहानी उनके 'जिये' से निकली है। पात्रों में प्रभात, रज्जन और दिलबहार की तिकड़ी के अलावा सोमारू कहार, चुन्नी, सत्तार, सुलतान, कृपाशंकर, मुन्नू और कुंजन मामा जैसे बहुत सारे चरित्र समाज में चल रही अच्छाई-बुराई को रेखांकित करते हैं। जड़ें जमाए जातिवाद की सही परख लेखक को है। ब्राह्मणों, ठाकुरों के अलावा कायस्थों की 'तटस्थता' का भी लेखक को ज्ञान है। गांवों में मचे धमकच्चर

में, 'कायस्थों का यह हाल है कि उकसाने का कोई मौका हाथ से नहीं जाने देते, चाहे वह चुड़िहारों के लिए हो, चाहे वह ठाकुरों, पंडितों के लिए। चालाकी ही उनका शगल है।'।

तो क्या 'सांप्रदायिकता' ही उपन्यास की बीज समस्या है। नहीं। गौर से पढ़ने पर दिलबहार की यह उलझन केंद्रीय लगने लगती है, 'या फिर गांव में रिश्ते कायम रखने के लिए गरीबी या भुखमरी ही एकमात्र शर्त थी जिसके टूटते ही सारे रिश्ते बिखरने लगे?' जब तक चुड़िहारों के घर के लोग 'बड़े घरों' में नौकरी मजूरी करते थे तब तक समस्या न थी। चुड़िहारों में सत्तार, दिलबहार और सुलतान के आगे बढ़ने से मानो शासक और 'परजा' का समीकरण बिखरने लगता है। फिर अस्मिता विमर्श के नाम पर घात लगाए मंदिर-मस्जिद, पूजा-नमाज की सियासत। इस बात की चिंता कि मुसलमान तो रियाद तक जाकर कमा रहे हैं, और हम?' विनोद कुमार ने उपन्यास में चुड़िहारों के कब्रिस्तान का मामला कथा में कई जगह शामिल किया है जो एक रूपक की तरह उभरता है। क्या ऐसे ही मसलों के लिए भारतीय समाज आपस में जूझता रहेगा!

उपन्यास में कुंजनलाल का चरित्र है, जो मास्टरी से रिटायर होकर गांव में रहते हैं और युवकों में सकारात्मक सोच भरना चाहते हैं। यह चरित्र विशेष बन पड़ा है। अपने सपनों और विचारों के साथ वे लगातार तनहा हो जाते हैं। जाति और भाषा के झगड़ों पर अपनी स्पष्ट राय देते हैं। प्रभात के पूछने पर कुंजन मामा कहते हैं...'बेटा यह गांव अब बहुत बेगाना हो गया है। मेरी पहचान का तो बिलकुल नहीं लगता।' उपन्यास का अंत कुंजनलाल की दुर्दशा के साथ होता है। वे गांव में कब्रिस्तान को लेकर छिड़े झगड़े में मूढ़मतियों की बहस सहन नहीं कर पाते।

वजह बेगानगी नहीं मालूम

विनोद कुमार श्रीवास्तव



उनको लकवा मार जाता है। दिलबहार प्रभात से कहता है, 'प्रभात तुम ज़रा ख्याल रखना चच्चा का। वे भी हमारी तरह यतीम ही हैं इस गांव में' आखिर क्यों कुंजन मामा और चुन्नी जैसे लोग यतीम हो जाने की स्थिति में पहुंच गए हैं। विनोद कुमार ने गांव में आ रहे बदलावों को पूरी प्रामाणिकता के साथ चित्रित किया है। छोटे-छोटे डिटेल कथारस को पुष्ट करते हैं। चाहे चुन्नी चुड़िहारिन द्वारा नई लड़कियों को चूड़ी पहनाने का प्रसंग ही क्यों न हो। बदले परिदृश्य में रिश्तों का बेगानापन बूढ़ी चुन्नी को रुला जाता है, ...और अउर ओहर तोहार अम्मा तक हमके ना पुछलीं ह।'

'वजह बेगानगी नहीं मालूम' एक व्यंग्यार्थ है सचाई यह है कि वजह बिलकुल स्पष्ट है। लेखक ने अतिरिक्त उपकथाओं पर संयम रखते हुए अपनी बात रेखांकित की है। साथ ही, इस मुद्दे पर केवल विलाप न करके एक प्रमुख पात्र के द्वारा उत्तरदायित्व भी तय किया है। प्रभात रज्जन को पत्र लिखता है। 'हम' में स्वयं के साथ रज्जन और दिलबहार को शामिल करता है, 'हम बिना कुछ कहे या बिना कुछ सोचे ही भाग आए थे। उस समय तो नहीं लेकिन अब लगता है कि यह भागना हमें भी संदिग्ध बनाता है। हम कुछ न करते हुए भी शक के दायरे में हैं। ...आखिर कुछ तो होगा जिसकी वजह से हम केवल भागे। सिर्फ भागे ही नहीं बल्कि एक दूसरे से भी भागे।' लेखक पुराने पड़ रहे लोगों के साथ नई पीढ़ी को भी शक के दायरे में लाता है। इस तरह सांप्रदायिकता का सवाल 'हिंदू मुस्लिम भाई भाई' की परिधि तोड़कर अर्थशास्त्र और सत्ता-संघर्ष में विस्तार पाता है। विनोद कुमार श्रीवास्तव एक भरा पूरा जीवन व्यक्त करने के लिए भाषा की कई भंगिमाओं को अपनाते हैं। उपन्यास बड़े सलीके से पाठकों के आगे आईना रख देता है। यह कहना अतिरिक्त होगा कि लेखक के गहरे सरोकार एक जानी पहचानी-सी कथा को रोचक और विचार सम्पन्न बनाते हैं।

वजह बेगानगी नहीं मालूम/विनोद कुमार श्रीवास्तव/ संभावना प्रकाशन, रेवती कुंज, हापुड़-245101/ मूल्य : ₹ 250

बी 2/8 बी, केशवपुरम, लारेंस रोड, नई दिल्ली-110035, मो. 09868076182

उ प न य ा स

पश्चिम बंग की सीमांत धरती पर सुलगते जनाक्रोश की कथा

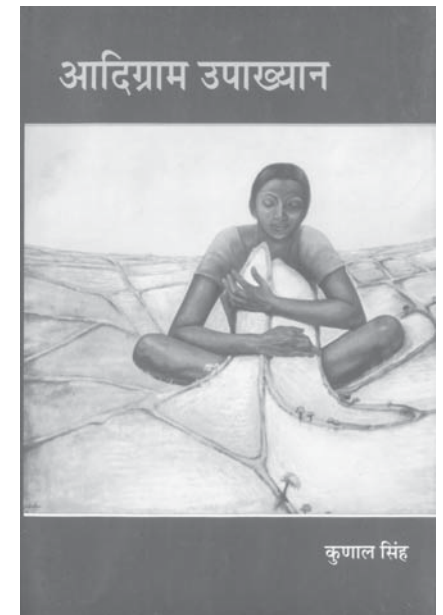
पुष्पपाल सिंह

उ

उपन्यास के वर्तमान में एक बहुत ही महत्वपूर्ण घटना ('डेवलपमेंट') यह है कि उपन्यासकारों की एक ऐसी युवा पीढ़ी सामने आई है जिसने अपनी रचनाशीलता के प्रथम विस्फोट से ही एक चमक और आश्वस्ति दी है। उनके पहले उपन्यास को पढ़कर सहसा ही यह विश्वास नहीं होता कि यह उनका पहला कदम है, पूर्ण अधिकार, आत्मविश्वास और परिपक्वता के साथ उन्होंने ऐसे उपन्यास दिए हैं जो अपनी कहन, अन्तर्वस्तु, बुनावट और प्रभावान्विति से एक गंभीर प्रभाव छोड़ते हैं। ऐसे उपन्यासकारों की एक पूरी पांठ है— अशोक भौमिक, ब्रजेश के. वर्मन, रणेंद्र, संजय कुंदन, पंकज सुबीर, कुणाल सिंह, अरुण आदित्य के नाम अनायास अपनी कृतियों के साथ स्मरण में आ रहे हैं। विभिन्न रूपों में ऐसे 'उपन्यास' का रेखांकन समय की आवश्यकता है। इन लोगों ने न केवल अनचीन्हे, अलक्षित क्षेत्रों और चुनौतीपूर्ण विषयों का अपने लेखन में संधान किया है बल्कि उपन्यास के ढांचे, बुनावट को भी अपने नए और विभिन्न रंगों के धागों और डिजाइनों में संवार कर उसके प्रचलित रूपाकार ('फॉर्म') की नवीन रूप में अभिकल्पना की है। कुणाल सिंह का उपन्यास 'आदिग्राम उपाख्यान' भी ऐसी ही आश्वस्ति लेकर आया है।

अपनी कहानियों से चर्चा में आए कुणाल सिंह अपने प्रथम उपन्यास के लिए जिस कथा-भूमि ('लोकैल') का उल्लेख करते हैं, वह बांग्ला देश की सीमा से लगा 'मध्यवर्ती पश्चिमी बंगाल का एकदम पूर्वी छोर' पर स्थित आदिग्राम है, अपने पूरे आंचलिक रंगों में, यह हिंदी कथा के लिए बिलकुल अजाना-

अनछुआ भू-क्षेत्र है। कथा के केंद्र में इस गांव को स्थापित कर लेखक न केवल इस अंचल को उसकी पूरी प्राकृतिक सुषमा, भौगोलिक संपदा में प्रस्तुत करता है बल्कि प्रांत की राजधानी कोलकाता तक कथा का विस्तार विभिन्न संदर्भों में करता है। भूमंडलीकृत आर्थिकता (इकॉनॉमी) में विकास के नए द्वारों को खोलते भूमि अधिग्रहण के संघर्षों को जिस ज़मीनी सच्चाइयों के साथ, जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है, वह सराहनीय है। किंतु कथाकार के ज़ेहन में केवल बंगाल में सिंगूर जैसे ग्रामों की ही भूमि-अधिग्रहण की मुहिम नहीं है, गुड़गांव, राजस्थान, आदि के विशेष आर्थिक क्षेत्र—सेज—में भूमि-अधिग्रहण के समय चल रहे संघर्ष, हीरो होंडा (गुड़गांव) में मज़दूरों की बेरहमी से पिटाई, आदि भी उसकी चेतना को उसी रूप में आंदोलित करते हैं। बंगाल में वामपंथी सी.पी.एम. आदि राजनीतिक पार्टियों ने जिस प्रकार अपने कैडरों के माध्यम से वहां



की युवा-शक्ति को ध्वंसकारी कारगुजारियों में उतारा उसका चित्रण प्रत्यक्षदर्शी स्थितियों के साथ बड़ा प्रभावी बन पड़ा है। लगता है लेखक उन पात्रों और स्थितियों के बीच में से उठकर अपनी कथा का विन्यास कर रहा है, अखबारी और दृश्य मीडिया के सूचना-संसार से अलग ज़मीनी हकीकतों का यह बयान पश्चिम बंगाल से इस क्षेत्र में निरंतर सुलगते युवा आक्रोश को सही परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित करता है। अपनी सीमित कथा-वृत्त में उपन्यासकार ऐसे अवसरों को सचेष्ट नियोजना निरंतर करता चलता है जिनसे समकाल के प्रत्येक महत्वपूर्ण सवाल और समस्या पर उसे अपने ढंग से विमर्श रचने की सुविधा मिल सके। औद्योगिक विकास की ज़रूरतों में गांवों का तेज़ी से होता शहरीकरण, ग्राम-विकास योजनाओं की ज़मीनी हकीकत, विकास के नए सोपानों का सच, कारखानों में निरंतर हो रही छंटनी, गांवों में सुलगते आक्रोश में ग्राम वाहिनियों, लड़ाकू सेना, लाल सेना, आदि का गठन और युवाओं की क्रांतिकारी सोच, राजनीति के अपराधीकरण, जगह-जगह हो रहे भूमि-अधिग्रहण में राजनीति और भू-माफ़ियाओं की कारस्तानियां, भूमि छिन जाने से अनेक पारंपरिक उपजों, मसालों की खेती, आदि का छूटना, सीटू जैसे मज़दूर संगठनों की अंदरूनी राजनीति, सांप्रदायिक मानसिकता और उसके चलते बाबरी मस्जिद प्रकरण पर वहां से दूर-दराज़ के गांवों में उसकी प्रतिक्रिया और उन स्थितियों का अपने ढंग से प्रतिरोध, आदि को जिस रूप में लेखक अपने कथा-क्रम में अनुस्यूत करता है, वह एक विस्मय देता है। इस रूप में उपन्यास का कथा-फलक छोटी-सी कथा में भी एक विस्तृति पा लेता है, कथा का पाठ बहुत चौड़ा हो जाता है। उपन्यास वर्तमान और अतीत में आवाजाही करता है और हमें इतिहास की लोक-परंपरा, जिसे वाचिक परंपरा भी कहा जा सकता है, से परिचित कराता चलता है। इस क्रम में कथाकार ईस्ट इंडिया कंपनी के उपनिवेशवादी शोषण चक्र का पर्दाफाश करता यह बताता है कि किस प्रकार 1770 ई. से लेकर आज तक आदिग्राम का किसान अपनी भूमि बचाने के लिए निरंतर संघर्ष की स्थिति में है, वह संघर्ष लिखित इतिहास में दर्ज़ नहीं है, स्कूल में सभी किताबों में “‘चुआड़ आंदोलन’ और जान दूंगा, ज़मीन

नहीं दूंगा” जैसे नारों का जिक्र तक नहीं है। कहीं उसके लिए केवल दस्तावेज़ी प्रमाण भी जुटाता है। 27 अक्टूबर की घटना इस रूप में सुनाई जाती है, रानी रासमणि ने इलाके की औरतों को बटोर कर एक लड़ाकू वाहिनी तैयार की थी। 27 अक्टूबर, 1770 की घनघोर अंधेरी रात जब कंपनी के कुछ कारिंदे नलहाटी बाज़ार से बैलगाड़ियों पर धान लादकर चले तो उन्हें इस बात की ज़रा भी भनक नहीं थी कि उनके साथ क्या होने जा रहा है।” किस प्रकार स्त्रियों ने कंपनी सरकार के इस अन्न को लूट लिया था, इसका अत्यंत रोचक वृत्तांत चित्रित किया गया है, कैसा था वह ‘चुआड़ विद्रोह’ जिसमें अकाल की मार से बचे लोगों, स्त्रियों और बच्चों तक ने तीव्र प्रतिकार किया था—दो अंग्रेज़ कलेक्टरों की आदिग्रामवासियों द्वारा हत्या—“अंग्रेज़ इस विद्रोह को कुचलने में नाकामयाब हो रहे थे। इलाके के बच्चे-बच्चे तक तीरंदाज़ी में पारंगत हो चुके थे।” उपन्यास का यह प्रसंग एक दिशा देता है कि हमारे लिखित इतिहास में कितना कुछ छूट गया है 1757 ही नहीं 1857 का सच इतिहास की किताबों से अधिक लोक स्मृति में सुरक्षित है। कंपनी शासन ने 6 वर्ष के अंदर ही किस प्रकार बंगाल को अकाल की स्थिति में पहुंचा दिया गया, थोड़े समय बाद ही दूसरा अकाल वहां पड़ा और “कहा जाता है कि जब दूसरा अकाल पड़ा, कंपनी के गोदामों में कोई एक लाख मन धान जमा रखा हुआ था।” ईस्ट इंडिया कंपनी के आगमन से लेकर 1976 में सी.पी.टी. कंपनी के आगमन तक किसानों को अपनी भूमि बचाने का संघर्ष निरंतर इसी रूप में करना पड़ा है जिस रूप में आज कर रहे हैं। यह व्यथा आदिग्राम और उसके आस-पास के गांवों की ही नहीं है जो ‘जमीन अधिग्रहण प्रतिरोध समिति’ का गठन कर एकजुट होना चाहते हैं, पूरे देश में व्याप रही मूल बीमारी यह है कि “आदिग्राम, मुंशीग्राम, रानीरहाट, जगदलपुर, कारसरीपाड़ा, आदि गांवों की पांच फसली, ज़मीन को किसानों की मर्जी के खिलाफ़ और बिना उनसे कोई पूर्ण राय लिए सरकार कैसे हथिया सकती है?” कोई भी सरकार भूमि से उजड़े किसानों की वैकल्पिक पुनर्वास योजना लेकर भूमि अधिग्रहण में प्रवृत्त नहीं होती।

बांग्ला देश के इस पड़ोसी ग्रामांचल में

वहां के लोग किस प्रकार देशों को बांटती प्रशासन द्वारा खींची गई भौगोलिक सीमाओं को तोड़ एक-दूसरे के देश में चहलकदमी की मुद्रा में आवाजाही करते हैं, इसका परिचय उपन्यास के आरंभ में ही मिल जाता है। किस प्रकार बांग्ला देश के बाशिंदे यहां पूरी नागरिकता पा जाते हैं, इसकी बानगी इस वर्णन में देखी जा सकती है, “पिछले विधानसभा चुनाव से पहले रानीरहाट-बशीरपुर सीट से खड़े होने वाले रासबिहारी घोष ने कई बांग्लादेशियों के राशन कार्ड्स—वोटर्स आई.डी. बनवा दिए थे। उसी लॉट में फाटाक्रेष्टो भी भारतीय नागरिक बन गया। उसने एक बंगाली लड़की से शादी भी कर ली और उससे चार-पांच साल का एक लड़का है। वहां किस प्रकार ‘गुलामी से छुटकारा पाने के लिए’, ‘गुरिल्ला वार’ की तैयारियां चल रही हैं, उपन्यास इन सब स्थितियों में गहराई से प्रवेश करता है। वस्तुतः ‘आदिग्राम उपाख्यान’ इस क्षेत्र में भीतर ही भीतर सुलगते जनाक्रोश, वहां पनप रही अनेक लड़ाकू वाहिनियों और नित्य होती हत्याओं, बलात्कारों, राजनीतिक प्रदर्शनों, इन प्रदर्शनों में हो रही हत्याओं और तरह-तरह की नृशंसताओं के सच को बड़ी कुशलता से अभिव्यक्ति देता है, “...वह जुलूस जब कलकत्ते में कोई दस लाख लोग निकल पड़े थे वियतनाम पर अमेरिकी हमले के विरोध में। कहते हैं, यह दुनिया का सबसे बड़ा विरोध प्रदर्शन था। आपको भली-भांति याद होगा, पोस्टर्स पर तब लिखा गया था— ‘आमार नाम तोमार नाम, वियतनाम वियतनाम।’ आज एक बार फिर से वही नज़ारा दिख रहा है कलकत्ते की सड़कों पर, बस वियतनाम की जगह आदिग्राम ने ले ली है।’ इस प्रकार यह पूरी तरह से एक राजनीतिक चेतना का उपन्यास है।

राजनीतिक चेतना के उपन्यासों में प्रायः विमर्श विवरण में बदल कर वृत्तांत की संवेदना को क्षत-विक्षत करता है किंतु कुणाल सिंह का प्रस्तुत उपन्यास अपनी कथात्मक संवेदना, किस्सागोई और जीवनगंधी भाषा, अभिव्यक्ति की ताज़गी के आकर्षण में भी बांधता है। मैं बहुत देर से यह बात कहता आ रहा हूँ कि हिंदी ने अपेक्षित मात्रा में अपनी लोकभाषाओं से अपनी प्राणशक्ति ग्रहण नहीं की। किंतु कुणाल सिंह उन थोड़े-से लेखकों में हैं जिन्होंने लोकभाषा की शक्ति को चीन्ह कर उसे अपनी

सीदपुर नहीं, स्वदेश की कथा

मीनूमंजरी

अभिव्यक्ति के केंद्र में रखा है—लोकभाषा से शब्द, उपमान और बिंबात्मक क्षमता वे जिस रूप में ग्रहण करते हैं, वह उनकी भाषा को एक नई धज और संवार देता है—जगह-जगह बतकही का-सा अंदाज़, लोक-कथाओं की कहन-शैली अपनी पूरी भंगिमाओं में, लोक कथाओं—किस्सा तोता-मैना जैसी कथा को आगे बढ़ाने की कथा-युक्तियों का बहुत सही और सटीक इस्तेमाल कुणाल सिंह ने किया है, “कहानी में एक और कहानी। कथा के पीछे एक दूसरी ही कथा। पहली की पूरक नहीं, एक बिलकुल ही अलग। इस तरह कथाओं का अनुवर्तन करतीं एक पर एक कई कथाएं, कि कोई ओर अंत ही न सूझता। यह प्रविधि वे अपने उपन्यास की कथा के लिए अपनाते हैं। डाल से लटक रही चुड़ैल, सुअवा, चुड़ैल के बाल, पिशाच बाँधने, कटोरी घुमाने के लोक विश्वास और अभिप्राय (‘मोटिफ़’) और ऐसी भाषा-शैली—“इतना कहने के बाद सुआ उड़ा और पेड़ के घने में बिला गया “××××” “दुआर पर चारों तरफ़ सुनसान था, चिरई का पूत भी नहीं था...” उन्हें और पाठक को सहज ही उस लोक में ले जा कर खड़ा कर देती है, जहां का वे चित्रण कर रहे हैं। वस्तुतः शैल्पिक दृष्टि से भी ‘आदिग्राम उपाख्यान’ एक बहुत समृद्ध उपन्यास है। बस एक ही शिकायत उपन्यासकार से की जा सकती है। अपनी कहानियों और इस उपन्यास में भी कुणाल सिंह को अध्यायों के शीर्षक का ऐसा शौक है जिसमें वे नवीनता से चौकाना तो चाहते हैं किंतु यह वैचित्र्य पाठक को ज़्यादा सुहाता नहीं, वह मात्र वैचित्र्य बनकर रह जाता है, यहां भी दो-दो पंक्तियों में शीर्षक या कहें दो-दो शीर्षक प्रत्येक अध्याय को दिए गए हैं। यदि ये सरल और सहज होते तो ज़्यादा प्रभावी बन सकते थे, वर्तमान रूप में उनकी कोई विशेष संगति अध्याय के कथ्य के साथ नहीं बन पाती है। इस अत्यल्प न्यूनता के साथ भी ‘आदिग्राम उपाख्यान’ एक बहुत सशक्त और स्मरणीय उपन्यास है।

आदिग्राम उपाख्यान/कुणाल सिंह/भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, मूल्य : ₹ 200

63, केसरबाग, पटियाला-147001, मो. 0941786565

‘इ

ति+अ+हास—ऐसा होता आया है, इतिहास को समझने की भारतीय दृष्टि अतीत को वर्तमान से काटकर या अलग कर देखने की बजाए एक कॉन्टीन्यूअम, निरन्तरता मानती है। इतिहास वर्तमान से जुड़ा हुआ ही है, कोई अलग चीज नहीं। पंकज सुबीर अपने उपन्यास ‘ये वो सहर तो नहीं...’ में इसी निरन्तरता को तुलनात्मक रूप से देखने की कोशिश करते हैं।

सुबीर इतिहास और वर्तमान को दो संदर्भों में सामने रखते हैं। उपन्यास की कथा दो कालखंडों में चलती है—एक 1857 में और दूसरा 2007 में। कहानी की पृष्ठभूमि एक ही है—भोपाल के पास स्थित सीदपुर का छोटा-सा कस्बा। ये दोनों कथाएँ समानान्तर चलती हैं और आप दोनों की समानताएँ लक्षित कर सकते हैं। सुबीर का लक्ष्य भी पाठकों को यह दर्शाना है कि अतीत से वर्तमान तक कुछ ज़्यादा बदलाव नहीं आ पाया है।

इस उपन्यास को एक डायक्रोनिक या द्विकालिक अध्ययन की तरह देखा जा सकता है। 1857 की कथा भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम अथवा सिपाही विद्रोह की है। सीदपुर के कैन्टोनमेंट में कैसे यह विद्रोह हुआ और इसके फलस्वरूप कुछ दिनों तक सिपाही बहादुर सरकार भी चली। अंग्रेज सरकार का झंडा यहां हटा दिया गया। लेकिन जनरल ह्ययूरोज पूरी नृशंसता से सीदपुर के विद्रोह को दबाने में सफल रहता है। कैन्टोनमेंट के इर्द-गिर्द सैनिकों के निशानेबाजी के अभ्यास का मैदान विद्रोहियों की लाशों से पट जाता है और आस-पास के सभी पेड़ों पर बया के घोंसले की तरह फांसी की सजा पाए विद्रोहियों की लाशें लटक जाती

हैं। सीदपुर का कस्बा उफ तक नहीं करता, क्योंकि उनकी रोजी-रोटी ही अंग्रेजों की वजह से चलती है।

इसी कथा के समानांतर चलती है इक्कीसवीं सदी के कलेक्टर मानवेंद्र और उनकी चौकड़ी की कथा। समय अलग है, बंगला वही। आदमी अलग है, निरंकुश आत्मा वही। सीदपुर के कस्बे पर एकछत्र राज की ख्वाहिश मानवेंद्र की चौकड़ी के षड्यंत्रों से पूरी होती है।

इतिहास को कहानी में सफलतापूर्वक समाहित करना आसान नहीं है, पर सुबीर ने इस किताब में यह कर दिखाया है। उनके किरदार भी रक्त-मज्जा से बने हैं, न कि किताबी, चाहे वह नवाब बेगम हों या कलेक्टर के चमचे। उन्होंने सीदपुर कस्बे को भी एक चरित्र के रूप में कहानी में शामिल किया है। बल्कि कहानी की शुरुआत कस्बे के ही





कहानी

सांप्रदायिकता के जख्म पर

मोहनकृष्ण बोहरा

चरित्र-चित्रण से होती है। यह ऐसा शहर है, जहां न सिर्फ लोग अंग्रेजों के बसाए हैं, बल्कि नदी-नाले भी उन्हीं के बनाए हैं। यहीं से कहानी के तेवर भी दीख जाते हैं। शहर को एक विशिष्ट चरित्र देने की यह शैली कहीं आर.के.नारायण के मालगुडी की याद दिला देता है। सीदपुर के लोग कैसे हैं, इसमें इस शहर के बसने की गाथा का महत्वपूर्ण योगदान है। हालांकि सुबीर का व्यंग्य नारायण के मधुर ह्यूमर की तरह नहीं है। इसमें तंज बहुत है।

सुबीर के व्यंग्य की धार आज की पीढ़ी के मोहभंग की वजह से है। इस तुलनात्मक कथा को लिखने का उनका ध्येय, उनके अपने शब्दों में है—‘यह दिखाना कि कुछ भी तो नहीं बदला है।’ सीदपुर का कस्बा पूरे भारत की प्रतिछवि है। अंग्रेज चले गए पर लकीर पीटने वाले बस सीदपुर में ही नहीं, पूरे देश में भरे पड़े हैं। बिना सोचे-समझे उनकी शासन प्रणाली की नकल से जो निरंकुशता जन्म लेती है, उससे उपजी कड़वाहट और निराशा ही इस पुस्तक का मूल स्वर है। यह हमें सोचने पर विवश करता है कि सच, कुछ भी तो नहीं बदला है।

एक शहर की कहानी को यूनिवर्सलाइज कर देने की वजह से इस किताब को एक एलीगरी की तरह देखा जा सकता है। कहने को यह सीदपुर की कहानी है, पर असल में इसे पूरे हिंदुस्तान से जोड़ा जा सकता है। सुबीर की भाषा भी इस किताब के अंदाज को दिशा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

ये वो सहर तो नहीं.../पंकज सुबीर/भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदीरोड, नई दिल्ली-110003, मूल्य : ₹ 230

द्वारा विनोद अनुपम, बी-53, सचिवालय कॉलोनी, कंकड़बाग, पटना-800020, मो. 09835699550

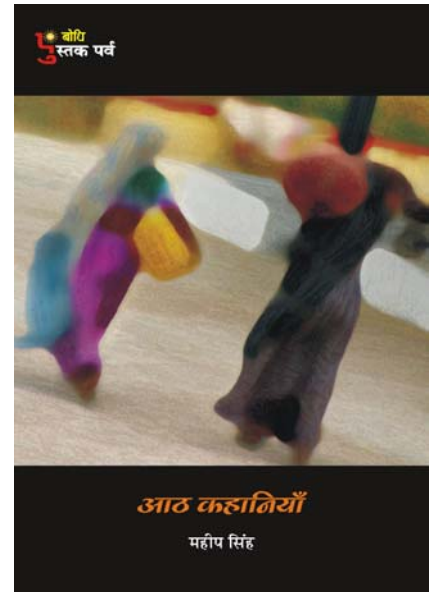
म

हीप सिंह पंजाबी और हिंदी के ऐसे कथाकार हैं जो दोनों भाषाओं के पाठकों में समान रूप से लोकप्रिय हैं। बोधि पुस्तक पर्व योजना के अंतर्गत प्रकाशित उनका संग्रह ‘आठ कहानियाँ’ साम्प्रदायिकता के मुद्दे पर केंद्रित हैं। समय-समय पर उठे साम्प्रदायिक तूफानों ने बसे-बसाए घर-परिवारों और काम-धंधों को उजड़ने-उखड़ने पर कैसे मजबूर कर दिया, ये कहानियाँ उसकी झलक दिखाती हैं।

इन कहानियों की एक प्रमुख विशेषता यह है कि ये सांप्रदायिक ताकतों द्वारा निहथी मनुष्यता के सीने पर किए गए जख्म ही नहीं दिखाती हैं, उन पर स्नेही हाथों से सौहार्द का मरहम भी लगवाती हैं। इस दृष्टि से ये विष्णु प्रभाकर और मोहन राकेश ही नहीं, मंटो की कहानियों से भी भिन्न हैं। इन लेखकों के यहां व्यक्ति दंगों में मरे-मिटे नहीं तो पूर्णतः लुट-पिट चुके हैं और अब विक्षिप्त या अर्द्ध-विक्षिप्त जीवन जीने को अभिशप्त हैं। महीप सिंह का एप्रोच भिन्न है। सांप्रदायिकता का दानव भारी मारकाट या व्यापक हिंसा पर उतरे, उससे पहले ही वे कहानी की नकेल थाम लेते हैं। ‘एक मरता हुआ दिन’ कहानी में एक निर्दोष और धर्मप्रवण सरदार की जान लेने पर उतारू उन्मादी भीड़ उसे लगभग मार ही डालती है लेकिन तभी एक सदाशयी परिवार मौके पर पहुंच कर उसके प्राण बचा लेता है। ‘डर’ प्रतीकात्मक शैली में लिखी गई कहानी है। इसमें लेखक ने दिखाया है कि कैसे अफवाह से दंगे भड़क उठते हैं लेकिन यहां भी दंगा विकराल हिंसक रूप ले इसके पहले ही दोनों ओर के बुजुर्ग मिलकर शांति समितियाँ गठित

कर देते हैं। हम कह सकते हैं कि इस दृष्टि की वजह से कट्टरवादियों का क्रूर और बर्बर, हिंसक चेहरा अपनी कुरुपता में पूरा बेनकाब नहीं हो पाता है और यह भी कि इनमें घटनाएँ प्रायः निरंकुश घटती हैं और पात्र भी कठपुतली ही अधिक रहते हैं लेकिन स्मरण हमें यह भी रखना होगा कि जिस समय ये लिखी गई थीं, उस समय इसके इसी रूप की आवश्यकता अधिक थी और तब इन्होंने अपनी रचनात्मक भूमिका भी निभाई थी।

इन कहानियों की एक विशेषता यह है कि थीम के साझा होने के उपरांत भी लेखक ने इसके अलग-अलग शेड्स उभारने का प्रयत्न किया है। कहीं लोग जीवन और जीविका बचाने के लिए शहर छोड़ने का विचार करते हैं, तो कहीं यह वतन का लगाव है कि मकान-दुकान सभी कुछ बेचकर जा चुका व्यक्ति, बच्चों के विरोध के बावजूद, अपने अकेले दम पर वहीं वापस जाकर धंधा शुरू करने का विचार करता है, उसकी वृद्धावस्था



उसे विचलित नहीं कर पाती!

‘सहमे हुए’ कहानी की आत्मा यद्यपि निबंध की है लेकिन इस मनो-सत्य को उजागर करती है कि व्यक्ति के साथ स्नेहपूर्ण संबंधों में भी धर्म-जाति का स्मरण कैसे रस में विष घोल देता है। पांचों मित्रों को जब एक-दूसरे के धर्म और जाति का ख्याल आता है तो उनका हंसी-ठहाका कुठित हो जाता है। ‘आओ हंसे’ में भी स्थिति ऐसी आ जाती है कि लोग आशंकित हो उठते हैं कि पवन और णमिंदर के खुले निष्कलुष भाव से, मजाक-मजाक में ही किए गए धार्मिक-आक्षेप कहीं भटककर अपना रास्ता न भुला बैठें!

लेखक की विशेषता यह भी है कि धर्मों की संकीर्णताओं को उसने बिना किसी पूर्वग्रह के व्यक्त किया है; ‘आओ हंसे’ में भी और ‘सहमे हुए’ में भी, और अन्यत्र भी। इसी तरह, यह मनोवैज्ञानिक सच्चाई भी एकाधिक कहानियों में उभरी है कि व्यक्ति को जब हम केवल व्यक्ति रूप में जान रहे होते हैं, तब उससे सहज ही स्नेह करने लग सकते हैं लेकिन जैसे हम उसे उसकी जाति या धर्म से जोड़कर देखने लगते हैं, तब वह अचानक ही एक अलग आदमी हो उठता है और दुर्योग से यदि उसका धर्म या जाति, हमारी जाति या धर्म की विद्वेषी हुई, तो हमारे लिए उसका जातिगत ‘हम’ उसके व्यक्ति ‘मैं’ पर प्रबल रूप से हावी हो उठता है और हमारे स्नेह-अंकुर पर विद्वेष का न सही, संशय का पाला तो गिरा ही देता है। कोई दृढ़चित्त व्यक्ति चाहे अपने मनोभावों को, संशय को दबा ले, दुर्बल चित्त को तो वह दबोच ही लेता है। एक प्रेमिका तो अपने प्रेमी के ‘मैं’ के भीतर के ‘हम’ को तलाश कर इतनी आशंकित हो उठती है कि उससे अपना प्रेम-संबंध ही तोड़ लेती है! इंदिरा गांधी का हत्यारा सरदार था और बाली का प्रेमी सतबीर भी सरदार है। इस संबंध सूत्र से वह घबरा उठती है। वह उसे कह भी देती है, ‘तुम लोग बड़ा खतरनाक खेल खेल रहे हो।’ वह जब ‘तुम लोग’ शब्द पर आपत्ति करता है, तब वह कहती है, बात तुम्हारे ‘मैं’ की नहीं, तुम्हारे ‘हम’ की है। यह ‘हम ही उस पर हावी होकर संबंध समाप्त करवा देता है। ‘सहमे हुए’ के बरक्स ‘पहले जैसे दिन’ सच को बयान ही नहीं करती, कथायित भी

करती है।

दूसरे छोर पर इतनी ही शिद्दत से लेखक ने ‘पुल और पानी’ की रचना की है। यह वतन का प्रेम है कि जाति-धर्म का भेद भूलकर गाँव का जनसमूह पंजा साहब की यात्रा-ट्रेन में अपने गाँव सराई के यात्री को तलाशते हैं। और, यह देखकर कि इसी गाँव के भूला सिंह की पत्नी और पुत्र ट्रेन में हैं, वे उन्हें सौगातों से लाद देते हैं। इस कहानी का शीर्षक खूब सटीक और व्यंजक है, अन्य शीर्षक इतने सटीक कम ही बन पड़े हैं।

‘दिल्ली कहाँ है’ किंचित् भिन्न आस्वाद देती है। जिनकी यादें दिल्ली से जुड़ी हैं, वे तो दिल्ली आने को तरसते ही हैं, तमाम सियासी दुष्प्रचार से बेखबर ऐसे लोग भी हैं जो दिल्ली-मुंबई के दीदार की तीखी हसरत अपने कलेजे में निष्कंप लौ की तरह संजोए हुए हैं और किसी अवसर की जुगाड़ में जी रहे हैं।

भाषा में पंछी से जुड़े हुए बिंब हमारा ध्यान खींचते हैं; कहीं किसी पंछी के नवजात बच्चे की तरह बात फुदकती है, तो कहीं मन गोली खाए पंछी की तरह फड़फड़ाता है। एक जगह हम देखते हैं अफवाहों की परी अपने पंखों में डर का बारूद समेटे चारों तरफ घूम रही थी। लेकिन यह उतनी प्रभावी योजना नहीं है; न ही आदमी की चीख को साइकिल के ट्यूब फट पड़ने से उपमित करना ही। लेकिन कुल मिलाकर भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है।

अंत में, यह कहना आवश्यक है कि ये कहानियाँ केवल समय काटने के लिए ही नहीं, सांप्रदायिकता का आतंक किस तरह उजाड़ता है और जीवन को बचाने में सौहार्द की कितनी बड़ी भूमिका होती है, इसे देखने-समझने के लिए भी पढ़ी जानी चाहिए। नाम मात्र के मूल्य पर पठनीय साहित्य उपलब्ध कराने की यह योजना प्रशंसनीय है; इसके लिए बोधि प्रकाशन बधाई का पात्र है।

आठ कहानियाँ / महीप सिंह, बोधि प्रकाशन, एफ-77, सेक्टर-9, रोड नं. 11, करतारपुरा इंडस्ट्रियल एरिया, बाईस गोदाम, जयपुर-302006, मूल्य : ₹ 10

मनीष मंजिल, रघुनाथपुरा, सिंवाची गेट, जोधपुर (राजस्थान)-342001, मो. : 09413341441; 0291-2618276

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय
हिंदी विश्वविद्यालय का
प्रकाशन



चार खंडों में



हिंदी साहित्य का मौखिक इतिहास (स्मृति-संवाद)

शोध एवं संपादन
नीलाभ

मूल्य

250/- (प्रति खंड)

1000/- (चारों खंड)

एकमात्र वितरक
शिल्पायन

10295, वेस्ट गोरखपार्क, शाहदरा,
दिल्ली-110032

नई काया में विसर्जित और निमज्जित होती कविता

ओम निश्चल

लं

वे अरसे से कविताएँ लिख रहे विष्णु नागर अब अपनी कविता-कला के उस मुकाम पर आ पहुंचे हं, जहां पहुंच कर उनकी कविता के

निहितार्थों को आधुनिक लोकतंत्र के आईने में बखूबी पढ़ा जा सकता है। यद्यपि वे उन अर्थों में मुखर राजनीतिक कवियों में नहीं हैं किंतु अखबार दुनिया से वास्तव रखने और राजनीति और सत्ता की दुरभिसंधियों को करीब से पढ़ने वाले कवि तो वे हैं ही। 'घर के बाहर घर' विष्णु नागर का नया कविता संग्रह है जिसमें उनका विट पूरी विदग्धता के साथ प्रकट हुआ है। वे भीतरी संसार के नहीं, बाहरी दुनिया के कवि हैं। जो कुछ समाज में घट रहा है, मनुष्य के साथ हो रहा है, विष्णु नागर की पैनी निगाह वहां है। वे व्यंग्य लेखन के लिए भी जाने जाते हैं। व्यंग्य लेखन में व्यंजना का बड़ा महत्त्व है। व्यंग्यकार जितना सूक्ष्मदर्शी होता है, कवि उससे भी ज्यादा संवेदी। इसलिए नागर के पिछले संग्रह 'हंसने की तरह रोना' की अनेक कविताओं में हम देख चुके हैं कि वे समाज में बैर-बराबरी, नाइंसाफी, सांप्रदायिकता और जड़ीभूत धार्मिकता पर बार-बार चोट करते हैं। स्त्री सशक्तीकरण के इसदौर में विष्णु नागर यह देख पाते हैं कि दुंदुभि के बावजूद स्त्री का जीवन अभी भी गाय की तरह जीने और मरने से ज्यादा मायने नहीं रखता। उसके चारों तरफ शोषण का शिकंजा लगातार बढ़ता गया है। इसी तरह मनुष्यता के पतन पर उनकी तमाम कविताएँ हैं जो यह बताती हैं कि वह वयस्क और विवेकी लोकतंत्र में अभी भी गुलामों का वजूद है...और अचरज तो यह

है कि हमने गुलामों की जो कौम बनाई है उसे इस बात का इल्म नहीं है कि वह गुलाम है। दरअसल, गुलामी की जंजीरे बड़ी मोहक होती हैं। नागर की इस कविता की व्यंजना शक्ति काविले गौर है...

गुलामों के पंख नहीं होते

उन्हें उड़ने की जरूरत भी महसूस नहीं होती

उन्हें यह पता भी नहीं होता कि वे गुलाम हैं

उन्हें यह कोई समझा भी नहीं सकता कि वे गुलाम हैं

(गुलाम, पृ. 45)

याद करें तो उनके पिछले संग्रह में भी *गुलाम* पर एक कविता है। यह सभ्य समाज के अभिजात्य की सीवनें उधेड़ने वाली कविता है जो एकाएक नरेश सक्सेना की मशहूर कविता 'अच्छे बच्चे की याद' दिला देती है। नागर की यह कविता एक तरफ आधुनिकता के बीच सांस लेने का दावा करने वाले मुल्क की असलियत को उजागर करती है दूसरी तरफ उस तंत्र की ओर इशारा करती है जो निरक्षर के निरक्षर, गरीब के गरीब, गुलाम के गुलाम और प्रजा के प्रजा बने रहने का एक वातावरण बनाए रखना चाहती है। सच्चे लोकतंत्र और उन्नत समाज का यह लक्षण है कि सारा समाज तरक्की के रास्ते पर चले। हर एक शख्स को आगे बढ़ने का अवसर मिले। नागर फूल के बहाने गैर-बराबरी के इस रूपक पर रोशनी डालते हैं। वे कहते हैं...

हम सिर्फ उन फूलों के बारे में जानते हैं

जो हमारे आसपास खिले

जो खिले ही नहीं

जो बीज से आगे ही नहीं बढ़े

वे भी फूल हो सकते थे

(फूल जो खिले नहीं, पृ. 48)

बावजूद विकास के तथाकथित अवसरों के, जो समाज हम बना रहे हैं, उसमें तमाम नाइंसाफियाँ हैं जिनकी ओर सत्ता का ध्यान नहीं जाता। नए कॉरपोरेट जगत में कार्मिकों के साथ क्या सुलूक होता है, नौकरी इसका एक मार्मिक वृत्तांत है। बेहतर परिणाम न देने वाले और संस्थानों के हितों के प्रतिकूल जाने वाले कार्मिकों के साथ भयादोहन का जो सिलसिला चलता है, नौकरी उसकी एक बानगी है। ऐसे संस्थानों में आपसे कभी भी कहा जा सकता है कि अब से आपकी सेवाओं की कोई जरूरत नहीं है, अतः कल से कार्यालय आने का कष्ट न करें। मंदी के हाल के दौर की भयावहता का असर अभी खत्म नहीं हुआ है। मंदी के

घर के बाहर घर

विष्णु नागर



31

दौर में बड़े-बड़े कॉर्पोरेट घरानों ने जिस तरह अपने कर्मियों की तनख्वाहों और सुविधाओं में कटौती की है, वह रोजगार के क्षेत्र में व्याप्त असुरक्षा, अस्थिरता और अपमान का सूचक है। इसी तरह अमेरिकीकरण वैश्विक स्तर पर अमेरिका केंद्रित राजनीति का काव्यात्मक विश्लेषण से ज्यादा विदूषक प्रहसन है।

विष्णु नागर की कविताएँ मनुष्य को निरंतर अपने विचार-परिसर के केंद्र में रखती हैं। वे लगातार अपनी कविताओं में मनुष्य को समझने की चेष्टा करते हैं और लगातार असफल होते हैं। कारण कुछ भी हो लेकिन नागर का सोचना यही है...

पहाड़ पर चढ़ो तो पहाड़, पहाड़ नहीं रह जाता

नदी पार कर लो तो नदी, नदी नहीं रह जाती

लेकिन आदमी को

जितना समझते जाओ

उतना वह मुश्किल होता जाता है

(लेकिन आदमी, पृ. 95)

यानी, सारी मुश्किल मनुष्य के साथ हैं। उन्होंने पत्थरदिल मनुष्य देखे हैं, जिसकी एक बानगी उनकी यह कविता भी देती है.

..कौन कहता है/पत्थर का दिल नहीं होता/होता है/हमने तो ऐसे ऐसे पत्थर देखे हैं/जिनकी ओपेन हार्ट सर्जरी तक हो चुकी है। (पत्थर का दिल, पृ. 63) आज आदमी कृत्रिमता और नकली चीजों के अंबार में रहे हुए अपनी ऋजुता खो बैठा है। मुम्बई बम विस्फोट शीर्षक कविता भी इस दौर के भयावह अमानवीय समय का ही इंदराज है।

मनुष्य के विरुद्ध मनुष्य, प्रकृति के विरुद्ध प्रकृति, सत्य के विरुद्ध सत्य। कदाचित यही कारण है कि व्यक्ति को सत्य-असत्य का बोध नहीं रहा। कवि कहता है: *मुझ पर न सत्य का असर हुआ/न असत्य का/मुझ पर पेट में बन रही/गैस का असर हुआ।* क्या जीवन मूल्य इतना नीचे गिर चुके हैं कि हमें क्षरण का बोध नहीं होता। पतन की हलचल हमें स्पंदित क्यों नहीं करती। कल तक जो चीजें संस्कार विरुद्ध थीं आज वे जीवन का प्रतिमान बन गई हैं। हमारा रोज-ब-रोज बदलती दुनिया से साक्षात्कार हो रहा है। एक वक्त था, मौन को अभिव्यक्ति

का एक बड़ा माध्यम माना जाता था। अज्ञेय तो कहते ही थे, शोर के इस संसार में मौन ही भाषा है। विष्णु नागर के भीतर बैठा कवि आसपास के शोर को इस हद तक महसूस करता है कि वह मौन नहीं रह पाता। वह जानता है कि आज मौन की कोई महत्ता नहीं रही। *चुप हवै बैठिए* का जमाना नहीं है यह। बोलना जरूरी हो गया है। आज मौन रहने की नहीं, बोलने की जरूरत है। कभी कवि देवेन्द्र कुमार ने अपने संग्रह का नाम ही दिया था—*बहस जरूरी है/नागर के शब्दों में—*

मेरे भीतर इतना शोर है

कि मुझे अपना बोलना तक अपराध लगता है

जबकि ऐसी स्थिति है कि चुप रहे तो गए

जबकि आज जैसे प्रतिपक्ष की आवाज धीमी पड़ गई लगती है। कोई बड़ा जनांदोलन परिदृश्य में नहीं दीखता। सरकार के जनविरोधी रवैये का ही परिणाम है कि विशेष आर्थिक क्षेत्र बना कर कॉर्पोरेट घरानों को लाभ पहुंचाने की कोशिश हो रही है। किसान विरोधी नीतियों के चलते किसान आत्महत्याएँ कर रहे हैं। कृषि योग्य जमीनों के अधिग्रहण से उद्योगपतियों को मालामाल किया जा रहा है। मंहगाई चरम पर है। सरकारी योजनाओं से लोगों को कम, ब्यूरोक्रेट्स और बाबूओं की पीढ़ी को ज्यादा लाभ हुआ है। नागर की कविताएँ अपनी सुपरिचित व्यंजना में इस हकीकत के विरुद्ध आवाज़ बुलंद करती हैं।

कविता वस्तुतः दिमाग से नहीं, दिल से लिखी जाती है। यह कोई वैचारिक उपक्रम नहीं है। इसका कोई निश्चित मसौदा नहीं बन सकता। यह हर बार अपनी नई काया में विसर्जित और निमज्जित होती है। कविता अपनी निर्मिति में समय मांगती है। शायद यही वजह है कि कवियों की रचना-प्रक्रिया में घुसपैठ कर देखें तो कविता के रचे जाने का चाहे जो कारण हो विधान हो, एक अंतराल इसके स्वास्थ्य के लिए जरूरी है। बिल्कुल उसी तरह जैसे एक बेहतर फसल के लिए ज़मीन का कुछ समय परती रहना और हरेपन के लिए वृक्ष का पत्रहीन नग्नगाछ होना जरूरी है। इसी विचार

को नागर कुछ इस तरह रखते हैं...

मैं बदलता हूँ

अपने पते

एक बार फिर से हरा होने के लिए

मैं कुछ समय बिल्कुल नंगा रहता हूँ

संग्रह की पहली कविता दो यात्राएँ

एक अलग ढंग की कविता है। एक में एक और यात्रा करता हुआ कवि यात्राओं के जिस अनुभवजन्य रोमांच और यायावरी से होकर गुजरता है, वहां एक ही यात्रा में कई अंतर्यात्राएँ संभव हो जाती हैं, भले ही कवि यह कहे...*मैं दो यात्राओं से लौटता हूँ और सिर्फ एक का टिकट फाड़ कर फेंकता हूँ/इसे ही कहते हैं, एक जन्म में सब। अनुभव के इस आकाश में खो जाने की बहुत सारी संभावनाएँ हैं। नागर भी अनुभव के इस आकाश में खो-से गए हैं...तादात्म्य की हद तक। नागर अर्थ की संश्लिष्ट गहराइयों में उतरने वाले कवि भले नहीं हों, किंतु भाषा के तमाम मोड़ों, अवयवों और गहराइयों में उतरने वाले कवि तो हैं ही। कुछ कुछ अंधा और किसी और भाषा में जैसी कविताएँ भाषा के ऐसे ही मोड़ों पर पड़ावों से गुजर कर रची गई हैं।*

कविता को लेकर विष्णु नागर के मन में जो अवधारणा है, उसके अनेक हवाले उनकी कविताओं में मिलते हैं। वे व्यंग्य में हंसते भी हैं, करुणा से भीगे शब्दों में उलाहने भी देते हैं, किंतु जब कविता की बारी आती है तो रोने को भी हंसी के शिल्प में बदला हुआ पाते हैं। उनकी एक जानी पहचानी कविता है—*वह रो रही थी जैसे हंस रही थी/सिर्फ उसकी मां को मालूम था कि वह रो रही है।* विष्णु नागर की कविता में निहित व्यंग्य की यह ताकत है। यही वजह है कि वे *विकास यात्रा* नामक अपनी कविता में एक कम्प्युनिस्ट की विकास यात्रा के अश्लील ग्राफ की निर्मम स्कैनिंग करते हैं, जैसे सांप्रदायिकों, संधियों, हिंदुत्ववादियों और फासीवादी ताकतों की। वे उन लोगों के पैरोकार हैं जो जीवन को फिर से जीने लायक बनाते हैं। वे ऐसी कविता के हामी हैं जो कविता-सी न हो, आलोचकों के किसी काम की न हो। पर दंगे में जला दिए जाने वाले लोगों की पीड़ा का स्मारक बन सके, जिसमें भटकाव हों, मंजिल पर पहुंचने का थोथा

दावा न हो।

विष्णु नागर की कविता में व्यंजना की अचूक शक्ति है। वे हल्के-फुल्के अंदाज में बड़ी बात कह जाते हैं। कुंवर नारायण ने बहुत पहले एक कविता लिखी थी—‘शांति वार्ता’...दुनिया भर में मची शस्त्रों की होड़ को लेकर। कुंवर जी आधुनिक अशांत विश्व के दुहरे चरित्र को इस कविता में रखते हैं जिसका आशय यह है कि ऊपर शांतिवार्ताएँ चलती हैं किंतु भीतरी मंशा महायुद्ध ठानने और परमाणु बम पर काबिज होने की रहती है। यानी कवि के शब्दों में मिटने-मिटाने में कोई कम नहीं है। इस कविता के लिखे जाने का अंदाज भी पुरलुत्फ है। पदावली गीतात्मक है, संस्कृत की पदरचना और गीता में प्रयुक्त छंदों का अनुसरण करती हुई। इसी प्रसंग पर लिखी नागर की कविता... **बमाबम** बेशक प्रोजैक है। पर नागर यह कहते हुए कि यह दुनिया बिना बमों के चल नहीं सकती, जिस तरह इन बमों की अपनी कोटियाँ सामने रखते हैं, धर्म, जाति, दलबंदी और विचारधाराओं की आपसी टकराहट को वे बमों की संज्ञा से अभिहित करते हैं, उससे इस कविता की तासीर कुंवर जी की कविता से थोड़ा भिन्न हो जाती है। नागर में परदुखकातरता है। इस अनुभूति का एक बड़ा उदाहरण उनकी **मेरे रिश्तेदार** शीर्षक कविता है। एक बड़े फलक पर यह कविता अपने सरोकारों के दायरे को एक बड़ा स्पेस देती है। **मुम्बई बम विस्फोट** कविता भी एक अलग तरह की कविता है। जीवन में कब क्या घट जाएगा, कोई नहीं जानता। इस हादसे में शिकार हुए तमाम तरह के लोगों की परिस्थितियों का जायज़ा लेता हुआ कवि जिस बिंदु पर कविता खत्म करता है, वहां कोई आदमी खाब देखता हुआ अचानक विस्फोट का शिकार हो जाता है। आज की नक्सली हिंसा के माहौल और आए दिन होने वाले बंद के दिनों में कौन कब किस हादसे का शिकार हो जाए, कोई नहीं जानता। यह कविता ऐसे हादसों का शिकार होने वाले लोगों के बहाने आज के बर्बर दौर की याद दिलाती है। इस तरह विष्णु नागर की कविता अपने समय के सवालियों और चुनौतियों को अपनी संवेदना से ओझल नहीं होने देती। अंत में कविता

संग्रह के शीर्षक **घर के बाहर घर** पर दृष्टि डालें तो कह सकते हैं कि घर कवियों का एक ऐसा ठीहा है कि जिसे केंद्र में रखने की बराबर कोशिशें हुई हैं। मंगलेश डबराल ने भी **घर का रास्ता** में लिखा है—**मैं भूल नहीं जाना चाहता था अपने घर का रास्ता**। इसे एक अलग ढंग से रखते हुए नागर ने अपनी एक कविता में लिखा है—**वह घर घर नहीं जिसमें कई कई घर नहीं**। और अब वे फिर घर के बाहर घर और घर के अंदर बाहर की तलाश में हैं। इन कविताओं में वाकई भीतरी और बाहरी यात्राओं के अनेक साक्ष्य हैं। विस्फोट में मनुष्यता के चीथड़े उड़ने के दुःस्वप्न हैं। डरे हुआ से उपजते डर हैं। अमेरिकीकरण के विस्तारधायी संजाल पर कवि का व्यंग्य है, पूंजीवाद पर एक असमाप्त काव्यात्मक बहस है और हल्के-

फुल्के मूड की अनेक ऐसी छोटी-छोटी कविताएँ यहां हैं जिनसे गुरजते हुए मानसिक विश्रान्ति का अहसास होता है। वे उन कवियों से बिल्कुल अलग हैं जो सदैव गंभीरता का कवच-कुंडल धारण किए रहते हैं बल्कि उन कवियों में हैं जो अपने कथ्य, शिल्प और अंदाजे बयों में निरंतर बदलाव करते रहते हैं।

घर के बाहर घर/विष्णु नागर/अंतिका प्रकाशन, सी 56, यू.जी.एफ 4, शालीमार गार्डन, गाजियाबाद, A 200

जी 1/506 ए, उत्तम नगर, नई दिल्ली-110059, फोन : 09955774115, 09386551991 ई-मेल : omnishchal@yahoo.co.in

अपील

हिंदी की साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रकारिता का लगभग 150 वर्ष का स्वर्णिम इतिहास है जिसमें सरस्वती, माधुरी, हंस, चांद तथा कहानी जैसी अनेक पत्रिकाओं ने हिंदी की रचनाशीलता को समृद्ध किया है। लघु पत्रिकाओं के माध्यम से यह क्रम आज भी चल रहा है। महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा पुरानी ऐतिहासिक पत्रिकाओं के सभी अंक तथा अनेक लघु पत्रिकाओं के प्रवेशांकों का एक संग्रहालय स्थापित किया गया है। संग्रहालय में पुरानी ऐतिहासिक पत्रिकाओं के कम ही अंक उपलब्ध हो पाए हैं। हम सभी लेखकों, साहित्यप्रेमियों से अपील करते हैं कि पुरानी ऐतिहासिक पत्रिकाओं के सभी अंक संग्रहालय को उपलब्ध कराने में हमारी मदद करें ताकि पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हिंदी साहित्य के विविध आयामों को शोधार्थियों के लिए उपलब्ध कराया जा सके।

संग्रहालय में रचनाओं की हस्तलिखित पांडुलिपियों, लेखकों का आपसी पत्र व्यवहार, लेखकों-पाठकों के बीच पत्र व्यवहार तथा चित्र आदि को भी संग्रहीत किया जा रहा है। सभी लेखकों, सुधी पाठकों से अपील है कि इस सामग्री को हमें उपलब्ध कराने में हमारी मदद करें।

विभूति नारायण राय
कुलपति

हाशिए की पीड़ा का आख्यान

नीरज

स

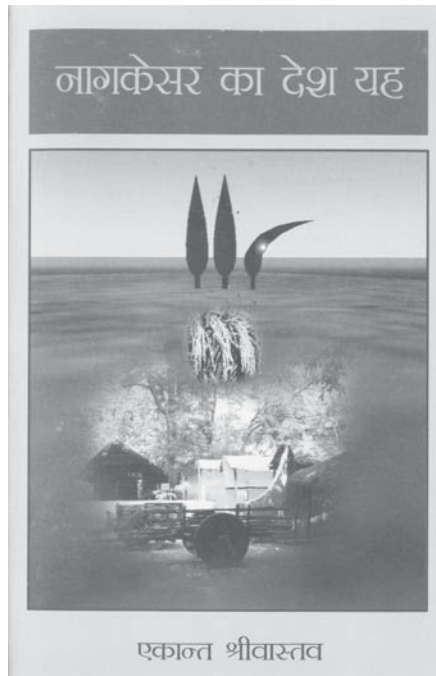
मकालीनता समसामयिक जीवन-संदर्भों और स्थितियों की चेतना को प्रमाणिक रूप में उद्घाटित करती है इसीलिए समसामयिक स्थितियों, जटिलताओं और अंतर्विरोधों को आधुनिक बोध के धरातल पर समझना ही समकालीन बोध का सृजनात्मक उपाय माना जाता है। जहां तक 'आज के रचनाकार' का सवाल है तो वह समकालीन जीवन की विभिन्न स्थितियों, संदर्भों, विडंबनाओं एवं अंतर्विरोधों को समस्या के रूप में न लेकर बोध के स्तर पर ग्रहण करता है। उसकी प्रस्तुति काल्पनिक, आदर्शात्मक या आरोपित न होकर यथार्थ के विस्तृत धरातल पर होती है। बीसवीं सदी के अंतिम दशक से अपनी काव्य-यात्रा आरंभ करने वाले युवा कवि एकांत श्रीवास्तव समकालीन परिदृश्य के ऐसे ही रचनाकार हैं जिनके साहित्य में निज-अनुभव की प्रमाणिकता और सामाजिक-यथार्थ की विडंबना अकृत्रिम सार-तत्व के साथ उपस्थित हुई है। उनकी रचनाशीलता एक ओर छत्तीसगढ़ की जीवन-शैली, आस्था, प्राकृतिक रागात्मकता एवं मिथकों के बहाने 'हाशिए पर आ गए उन मूल्यों की वकालत करती है जो अपनी केंद्रीय सत्ता से अपदस्थ कर दिए गए हैं' (कविता का आत्मपक्ष, पृ. 29) तो दूसरी ओर आश्वासन के पिटारे पर आधारित राजनीतिक-व्यवस्था और भूमंडलीय बाजार की विषमता की पोल-खोल मनुष्य की महक से गमकती धरती पर मुक्ति के गीत को उन लोगों के बीच ले जाती है जो बाजार के वृत्त के बाहर हैं, क्रेता नहीं हैं। राजेश जोशी के शब्दों को उधार लेकर कहूं तो 'इत्यादि' हैं। इसीलिए एकांत के यहां अन्न और अन्य, बीज और फूल, देश और

संसार, पर्यावरण और परिवार, मिट्टी और मुक्ति की संकल्पना समान्तर रूप में मिलती हैं। बकौल केदारनाथ सिंह—“यह कवि अपनी हर अगली कविता में मानो पाठक को आश्वस्त करता है कि वह अपने भावलोक में चाहे जितनी भी दूर चला जाए अंततः लौटकर वहीं आएगा जो उनके अनुभव की तपनी हुई काली मिट्टी है।”

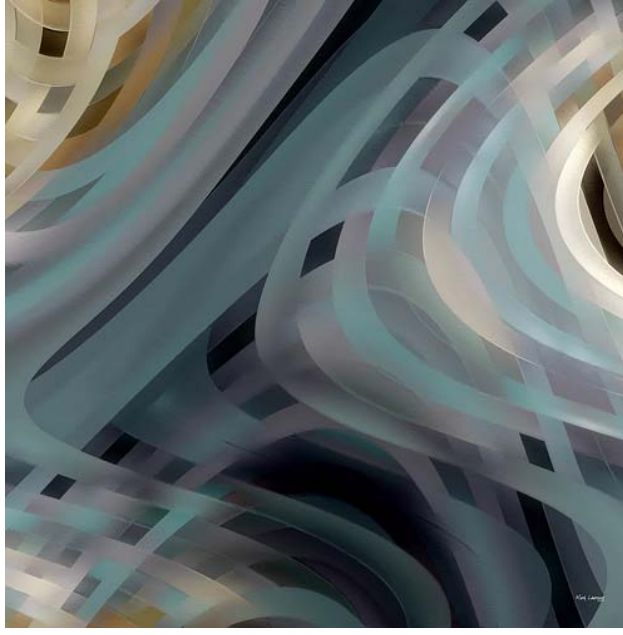
'नागकेसर का देश यह' एकांत श्रीवास्तव की 'अन्न हैं मेरे शब्द' (1994), 'मिट्टी से कहुंगा धन्यवाद' (2000) तथा 'बीज के फूल तक' (2003) के बाद की काव्य-रचना है। चार खंडों एवं अनेक उपखंडों में विभाजित यह लंबी कविता स्वयं एकांत के ही शब्दों में कहें तो 'इस महादेश की एक लंबी यात्रा की तरह है जो उन रास्तों से की गई है जिन्हें प्रायः निषिद्ध माना जाता है।' (भूमिका से) स्पष्ट है कि कवि ने यहां राजनीतिक-व्यवस्था की

विडंबना तथा बाजार के छद्म को विश्लेषित करने के साथ-साथ देश के जले-कटे परंतु असली चेहरों को उन अनारक्षित कूपों में खोजा है जहां अल्पमत बहुमत पर हुकुम गांठता है, उपयोगी वृक्षों के बदले बबूल के घने वन हैं, अभावग्रस्त स्त्रियाँ नहाने के बाद साड़ी को आधी लपेटकर आधी सूखाती हैं, तथा लोग बिना टिकट के गिड़गिड़ाते हुए यात्रा करने को मजबूर हैं। इसीलिए 'मिट्टी ही है सार' को चरितार्थ करने वाले कुम्हार, बढ़ई, मोची, लोहार, दर्जी एवं इन जैसी संघर्षशील एवं जुझारू जातियों के घायल सपनों की फड़फड़ाहट सभ्यता से यह सवाल करती है कि—“इक्कीसवीं सदी में/पहुंच चुकी सभ्यता/और मनुष्य चांद पर/कोई नहीं जानता/कि अभी कितना और रक्त पिएगी यह भूख।” इसीलिए कवि तथाकथित भद्र, इलिट एवं बौद्धिक समाज के नागरिकों से यह अपील करते हैं कि—“कभी करो परिक्रमा इस देश की/उन रास्तों से जो निषिद्ध हैं/निषिद्ध भद्र नागरिकों के लिए/...तब तुम्हें दिखाई देगा/असली चेहरा भारत का।”

एकांत मनुष्य को लोक, जनता या नागरिक को विमर्शात्मक धरातल पर परखने के विरोधी हैं। इसे गाँव या शहर के अर्थ में रिड्यूस करने की जुगाली के बजाय वे मानते हैं कि—“लोक का सीधा अर्थ किसी राष्ट्र विशेष की जनता से है, फिर चाहे वह ग्रामीण हो या नागर।” (कविता का आत्मपक्ष, पृ. 43) यहीं आकर उनकी काव्य-चेतना का लोकतांत्रिक चरित्र शहरी जीवन के दैनिक संघर्ष, ग्रामीण जीवन की विवशता, आदिवासी समाज की दुर्दम्य जीजिविषा, स्मृतियों के सहारे जीवित मानवता एवं प्रकृति के सभी चर एवं अचर जीवों की कौतूहल प्रक्रिया को



अपने में समाहित करता है। 'नागकेसर का देश यह' की दृश्य-यात्रा में भी हाशिए का वही साधारण आदमी है जो 'मूलभूत नागरिक अधिकारों और स्वाभिमान के साथ जीना चाहता है।' (भूमिका से) हालांकि इस ग्लोबल युग में साधारण आदमी, स्वाभिमान और नागरिक-अधिकार तीनों पर संकट के बादल मंडरा रहे हैं। बाजार का मौजूदा स्वरूप हमारे सामुदायिक मूल्यों एवं उत्तरदायित्व की प्रवृत्ति दोनों का क्षय कर रहा है। ऐसे में एकांत देश को नागकेसर का देश कहते हैं जो ऋतु की आंच में पकता है। कवि शायद यह बताना चाहते हैं कि जिस प्रकार नागकेसर का पौधा अपने सुर्ख लाल



रंग के कारण किसान के श्रम को मटियामेट होने से बचाता है उसी प्रकार आज हमें अपने देश को कृषि-समस्या (ग्लोबल वार्मिंग के कुप्रभाव से उत्पन्न), जीवनगत-समस्या (अमीर और गरीब के बीच की खाई का और चौड़ा होना) तथा वैश्विक-समस्या (प्रभुत्व का खेल, आतंकवाद, नस्लवाद इत्यादि) से बचाना होगा। क्योंकि वही मनुष्य धरती की आंख में बसा हुआ स्वप्न होता है जो—“विरुद्ध नहीं समाज के/धरती और मनुष्यता के/जो विरुद्ध नहीं।” ‘बीज से फूल तक’ नामक अपने तीसरे काव्य-संग्रह में भी एकांत ने लिखा है कि—“दिन-ब-दिन/राख हो रही इस दुनिया में/जो चीज हमें बचाए रखती है/वह केवल मनुष्य की महक है।”

'नागकेसर का देश यह' में विकास के बजाय 'समय के खुरों से' रौंदे हुए समाज की व्यथा-कथा को लक्षित किया गया है। देवार जाति के बहाने कवि ने कौंदकेरा, जतमई, सोनडोगरी, भीमखोज, कुसुमपानी और उसके आसपास के पूरे जनपद की विडंबना को बताया है जहां—“कुछ नहीं उगता/केवल भूख उगती है/धारदार/सरपत की पत्तियों-सी/जो काट डालती है/आदमी को जगह-जगह/कर देती है लहुलुहान।” भूख की यह समस्या सिर्फ देवार जाति और उस जनपद की न होकर आज भी देश के अधिसंख्य पिछड़े एवं सुदूर इलाकों की समस्या है। लोकतांत्रिक व्यवस्था के प्रशासकों, व्यवसायियों तथा

अर्थव्यवस्था के निर्धारकों ने देशीय अर्थव्यवस्था को इस हद तक स्वार्थोन्मुख बना डाला है कि आर्थिक नीतियों के सकारात्मक पहलुओं का लाभ पिछड़े वर्गों तथा आम लोगों तक अपेक्षाकृत कम ही पहुंचा है। इसलिए वहां आज भी बिजली, अस्पताल और डाकघर जैसी अनिवार्य सुविधाएँ समस्या बनी हुई हैं। यह भी कारण हो कि वहां केवल भूख उगती है। पुरुष ईंट-भट्टों में काम करते हैं। कुपोषण के शिकार बच्चे देश के भविष्य के कर्णधार या फिर लाडली योजना के किरदार नहीं अपितु अपनी नागरिकता से अपदस्थ हो चुके लाचार हैं। इसीलिए—“ये घरों में नहीं रहते/घर इनमें रहता है/ये धरती पर नहीं बसते/धरती इनमें बसती है/अपनी धरती/अपने घर को/सीने में लिए घूमते हैं ये।”

एकांत को भूख का डर इतना अधिक व्यथित करता है कि इस लंबी कविता में वे कालाहांडी के दुःस्वप्न से लेकर 67' के अकाल में सतबहिनी के मरने तक के कई संदर्भों के उकेरते हैं। भूख के कारण ही आज हत्या, अपराध, हिंसा, दंगा सब वैध लगने लगे हैं। पर याद रहे ये सभी कारण भूख से अधिक नृशंसता एवं अमानवता के पोषक हैं। इसीलिए कवि कुछ ऐसा करना चाहते हैं जिसके कारण उनके शब्द—“कृषक के दोनों की तरह/बीज में बदल जाएँ।” भूख के कारण ही स्वतंत्र भारत के सबसे बड़े जनकवि नागार्जुन ने तो सुजला सुफला के गीत गाने तक से इंकार कर

दिया था। उन्होंने लिखा है—“झूठ-मूठ सुजला सुफला के गीत न/अब हम गाएँगे/दाल-भात तरकारी पेट भर/जब तक न खाएँगे।”

'नागकेसर का देश यह' में लेखक की मुख्य चिंता परमाणु अप्रसार पर हस्ताक्षर, मंदिर-मस्जिद पार्कों का निर्माण एवं मनुष्य को मानुस बनाने के तिकड़म से अधिक भूख, अशिक्षा एवं विकास के विषमतामूलक सिद्धांतों को टटोलने की है। इन समस्याओं से 'कैटल क्लास' ही सही पर हवाई यात्रा करने वालों को दो-चार नहीं होना पड़ता है। यह समाज का सबसे निम्नतम तबका है अति पिछड़ा, आदिवासी एवं अन्य। यही वह वर्ग है जिस पर व्यवस्था की मार भी सबसे अधिक पड़ती है। इसीलिए विकास के नाम पर हो रही हिंसा और उस हिंसा की पक्षधर राजनीतिक-व्यवस्था को कवि कठघरे में खड़ा करते हुए लिखते हैं कि—“रात के अंधेरे में/होते हैं जो अपराध/जो हिंसाएँ/उससे भयानक होती है वह हिंसा/जो दिनदहाड़े की जाती है/विकास है यह/अपराध और हिंसा के इतिहास में/कि अब अपराधियों को/अंधेरे की जरूरत नहीं/साहस तभी दुस्साहस में बदलता है/जब व्यवस्था खड़ी हो/अपराधियों के पक्ष में/और ताकत साथ हो धन की/समरथ को नहीं दोष गुसाईं।” यह मुक्तिबोध की 'अंधेरे में' और रघुवीर सहाय की 'रामदास' से भी अधिक खतरनाक स्थिति है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से अभी तक परिस्थितियाँ बिल्कुल बदल गई हैं। अंग्रेजों द्वारा घोषित सपेरो और मदारियों वाला भारत अब आर्ग्युमेंटेटिव और इनक्रेडेबिल (अतुल्य भारत) होकर 'शाइनिंग इंडिया' बन गया है। सरकारी उत्पीड़न का सीधा दौर भी नहीं रहा, जमींदार और साहूकार का दौर खत्म हो गया। मगर नए चेहरों के साथ शोषण और उत्पीड़न करने वाले लोग आज भी विद्यमान हैं। पूंजीपति, माफिया एवं आपराधिक किस्म के लोग पूरे सिस्टम को नियंत्रित कर रहे हैं। यही कारण है कि—“जिसे हम प्रजा कहते हैं/जनता/उसके सीने में आज भी/आज भी मिल जाएँगे/सम्राट के घोड़ों की टाप के निशान/अब जनतंत्र है/और प्रजा अब जनती है/पर आज भी प्रजा के भीतर-भीतर/आज भी कितने छिपे हुए

सम्राट/वही यातना/वही हिंसा/और कहीं कोई सुनवाई नहीं।”

एकांत की मान्यता है कि भूख उपजाने में जनता की जड़ता और स्थितियों के प्रति उदासीनता से भी अधिक नेताओं की दोगली नीतियाँ और कण-कण में व्याप्त भ्रष्टाचार जिम्मेदार है। यहां धूमिल की उन पंक्तियों का याद आना भी स्वाभाविक है जिसमें उन्होंने रोटी से खेलने वालों एवं उसके समर्थन में संसद में मौन होने को आड़े हाथों लेते हुए लिखा था—“एक आदमी/रोटी बेलता है/एक आदमी रोटी खाता है/एक तीसरा आदमी भी है/जो न रोटी बेलता है, न रोटी खाता है/वह सिर्फ रोटी से खेलता है/मैं पूछता हूँ यह तीसरा आदमी कौन है? हमारे देश की संसद मौन है।”

विज्ञान और टेक्नोलॉजी की जो मार प्रकृति पर पड़ी है उससे पर्यावरण में असंतुलन पैदा हो गया है। यह वह समस्या है जो मनुष्य द्वारा लगातार प्राकृतिक संसाधनों के दोहन से संबंधित हैं। बीते दो दशकों में विश्व बाजार ने जिस उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिया है उसने दोहन के इस संतुलन को हिलाकर रख दिया है। इसीलिए यह अकारण नहीं है कि पर्यावरण संबंधी चेतना भी आज के कवियों में दिखाई पड़ती है। जहां तक एकांत श्रीवास्तव और ‘नागकेसर का देश यह’ की पर्यावरण चेतना का सवाल है तो इस संग्रह में लेखक ने पर्यावरण समस्या को मनुष्य की संवेदनशीलता और देश की सभ्यता

से जोड़कर देखा है “तुम नदियों के प्रति क्रूर होकर/भला कैसे सहृदय हो सकते हो/अपने देश/अपनी सभ्यता के प्रति।” लेखक का मानना है कि पेड़ों का कटना, नदियों का सूखना हमारे मौलिक जीवन-मूल्यों के लुप्त हो जाने का सूचक है। विविधता और बहुलता के एकरसता में बदल जाने का संकेतक है। इसीलिए उन्हें पेड़ों के कटने का अफसोस। (“काठ जो कभी पेड़ था/देखते-देखते/एक घर के कपाट में बदल जाता है।”) नागकेसर, विष्णुभोग, जयफूल और दूबराज जैसी विभिन्न प्रजातियों की उत्पादक मिट्टी का घने बबूल के वन में बदल जाने का दुख (“मैं जब ब्याहकर आई थी/तब लाल फूल फूलते थे इस गाँव में/तब ऐसा सघन/नहीं था/बबूल का वन”) और जल जो कि जीवन का सार है के सूखते चले जाने का पश्चाताप (“तब पड़ता नहीं था/ऐसा अकाल, ऐसा सूखा/गहरे कुंड सरीखे थे/गाँव के कुएँ/कभी सूखता नहीं था जल।”) होता है। हालांकि एकांत ने इस संग्रह में पर्यावरण समस्या के कारणों पर विशेष ध्यान नहीं दिया है पर उस ओर जरूर इशारा किया है जिसके कारण प्रकृति के साथ मनुष्य की गहन अंतरंगता खतरे में दिखाई देने लगी है। वैसे भी इन दिनों गंगा और यमुना जैसी नदियाँ जब अपना अस्तित्व बचाए रखने के लिए जन-जागरूकता के बजाए सरकारी अनुदानों एवं गैर-सरकारी संगठनों के प्रयासों की मोहताज होती जा रही है, ऐसे में छोटी-छोटी ही सही पर जीवनदायिनी अन्य नदियों का

क्या होगा यह सवाल अभी भी कायम है?

कुल मिलाकर सार्थक संवाद की इच्छा से निर्मित एकांत की कविता की जमीन व्यवस्था एवं बाजार के राजनीतिक गठजोड़ और उसमें साहित्य के हस्तक्षेप को किसी ‘एकांत’ के बजाए वर्तमान समय की चुनौती और उसमें इतिहास की भूमिका के सन्दर्भ में परखती हैं। आज जबकि भयावह एवं खतरनाक मंडी में तब्दील हो चुकी दुनिया में मूल्य, विचार, नैतिकता, जिम्मेदारी सब कुछ बिकाऊ हो चुका है, कला-मूल्यों की खोज भी डॉलर-केन्द्रित होती जा रही है; ऐसे में ‘नागकेसर का देश यह’ समकालीनता, विविधता एवं प्रतिरोध के उन मूल्यों को बयाँ करती है जो हाशिए के उपेक्षित, पीड़ित परंतु संघर्षशील बहुसामुदायिक समाज से संबंधित हैं। इसीलिए यहां निषिद्ध माने जाने वाले रास्तों से होकर मानवता के पाठ को नागरिक अधिकारों के दायरे में विश्लेषित किया गया है तथा प्रतिरोधी चेतना की सक्रियता और मनुष्य-सत्य (सबार ऊपरे मानुस-सत्य) की स्वीकारोक्ति से समकालीन कविता के जनतांत्रिक चरित्र को उद्घाटित किया गया है।

नागकेसर का देश यह/एकांत श्रीवास्तव/प्रकाशन संस्थान, 4268-बी/3, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 125

शोधार्थी, दिल्ली विश्वविद्यालय, 69 जुबिली हॉल हॉस्टल, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007, मो. 09868074669

अनुरोध

महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा के प्रकाशन प्रभारी का अनुरोध है कि पुस्तकवार्ता के समीक्षक समीक्षा प्रकाशनार्थ भेजते समय कृपया अपना बैंक खाता सं. और मोबाइल नं. का उल्लेख जरूर करें ताकि मानदेय का सुविधाजनक भुगतान इन्टरनेट बैंकिंग के द्वारा किया जा सके।

मानदेय के भुगतान में देरी इसलिए भी होती है कि बहुत से चेक सही पता न होने के कारण वापिस आ जाते हैं और पुनः चेक भेजने पर उनकी भुगतान की तारीख समाप्त हो जाती है। साथ ही विश्वविद्यालय को डाक-व्यय का अतिरिक्त भार भी उठाना पड़ता है। —संपादक

बेहिसाब बोलती खामोशी

सुनीता गुप्ता

श

ब्दों के अर्थ में सीमा जहां समाप्त होती है, वहीं से मौन की अभिव्यंजना प्रारंभ होती है। शब्दों के कोलाहल के बीच मौन की भाषा अंतर्मन में उतरकर काफी गहरे स्पर्श करती है।

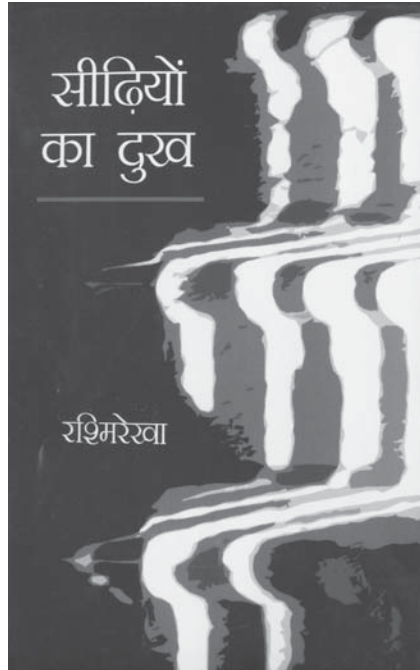
समकालीन कवयित्रियों के बीच रश्मिरेखा एक ऐसा नाम है जिनके व्यक्ति की रेखाएं कुछ अलग ही हैं। बड़बोलेपन, नारों व शोर के इस समय में वे काव्य की दहलीज पर आहिस्ते से दस्तक देती हैं। भाषा की मितव्ययता के साथ रेखाचित्रों की-सी सांकेतिक शब्दावली व ललित निबंधों की-सी सूक्ष्म पकड़ के साथ जब उनकी कविताएं सामने आती हैं तो गहरे निशान छोड़ जाती हैं।

बड़े-बड़े नारों, संदर्भों व आख्यानों से अलग उनकी कविताएं सूत्र-रूप में अपने समय की पहचान बनती हैं। अपने आस-पास की छोटी-छोटी चीजें उनकी दृष्टि परिधि में हैं और इन्हीं से वे अपने समय का सजग व सही वृत्तांत प्रस्तुत करती हैं। बिंबों का महत्त्व महज सौंदर्यपरक ही नहीं होता, इनके विशिष्ट सामाजिक संदर्भ भी होते हैं। ये जिस जीवन से जुड़े होते हैं उसके आस-पास के परिवेश को प्रस्तुत करते हैं। रश्मिरेखा की कविताएं जीवन के छोटे-छोटे परिदृश्यों से साक्षात्कार का परिणाम है। जीवन सिर्फ बड़े-बड़े आख्यानों से निर्मित नहीं होता, छोटे-छोटे अनुभवों से, जो सत्य बनता है वह कहीं अधिक प्रामाणिक व यथार्थ होता है।

रश्मिरेखा की कविताएं जीवन के सान्निध्य से उत्पन्न हैं। सीढ़ी, कटोरी, पांवपोश, चाभी, लालटेन, ईख, आईना, चटाई, कलश— इन छोटी-छोटी चीजों को लेकर बुनी गई ये कविताएं समकालीन जीवन के सक्रांतिकालीन

परिदृश्य की बारीक रेखाओं को बुनती हैं।

अपने मितकथन में से कविताएं रेखाचित्र के शिल्प के निकट आ जाती हैं। रश्मिरेखा के काव्य-संकलन का शीर्षक 'सीढ़ियों का दुःख' उनकी रचनाधर्मिता के मूल स्वरूप को व्याख्यायित करता है। सीढ़ी शब्द उनकी रचनाओं में कई बार आता है। सीढ़ियों की त्रासदी यह होती है कि ये लोगों को तो ऊपर पहुंचाती हैं, चढ़ने का माध्यम बनती हैं पर स्वयं कहीं नहीं जातीं। इन्हें रौंदते हुए हम इनके दर्द को नहीं समझ पाते। यह स्त्री-दृष्टि ही है जिसकी संवेदना सीढ़ियों के साथ है। यह अनायास ही नहीं है कि कवयित्री की दृष्टि अपने आस-पास की छोटी-छोटी चीजों पर अटकती हैं। कटोरी, चाभी, आईना, चटाई, कलम आदि को केंद्रित करके रचित इन कविताओं के गहरे मनोवैज्ञानिक निहितार्थ



हैं। ये वे चीजें हैं जो हमारे द्वारा बार-बार उपयोग में लाई जाती हैं, जिन पर हम निर्भर रहते हैं, पर जिनकी तरफ हमारी दृष्टि नहीं जाती। इस प्रकार अपने कलेवर में वंचितों का दर्द समेटती ये कविताएं आम जीवन के साथ जा खड़ी होती हैं। सांप को भी दूध पिलाने का साहस रखती कटोरियों में सारी उपेक्षा के बावजूद जब जीने की जिद शामिल हो जाती है तो वह जिजीविषा का प्रतीक बन जाती है। लालटेन की मद्धिम पर आत्मीय रोशनी, चटाई का लचीलापन, पांवपोश का समर्पण, ये सब वंचितों की उपेक्षित दुनिया व उनकी जिजीविषा से हमें परिचित कराते हैं और आज के उत्तर-आधुनिक युग के कंट्रास्ट में उपस्थित होकर उसकी विडंबनाओं को सामने रखते हैं। रश्मिरेखा की कविताएं अपने 'समय की फुसफुसाहट' सुनने का एक प्रयास है 'यह बुलंदियों पर चढ़ते जाने का शोर है/इसमें क्यों शामिल नहीं है हमारे जज्बात।' 'चमकते दांतों की प्रदर्शनी' के इस दौर में 'नदियों, पक्षियों और हवाओं का शोर क्यों सुनाई नहीं पड़ता/क्यों हर तरफ दहशतअंग्रेज खबरों का शोर है।' ऐसे में कविता स्तब्ध है। 'समय की दुख रही नस' की टीस को उनकी हर कविता में महसूस किया जा सकता है। आज के आपाधापी के दौर में खो रही पहचान की टीस, अस्तित्वहीनता के दर्द को एक स्त्री से अधिक कौन समझ सकता है।

सूचना क्रांति व भूमंडलीकरण के इस युग में सपने 'खरीद-फारोख्त की वस्तुएं' होते जा रहे हैं और इसलिए शब्दों के घोंसलों में दुबक रहे हैं। कबीर की लुकाठी से जीवन की प्रेरणा ग्रहण करने वाली कवयित्री स्तब्ध है यह देखकर कि "बुनकर बस्तियों में बेकार पड़ा है कबीर का करघा/और भारत के बाजारों में,

दुकानों में सज गए हैं/विदेशी कपड़ों के थान।”

यह बाजारवाद हमारी इच्छाओं और सपनों को हवा देता है और फिर इन्हीं के द्वारा अपनी जेब भरता है। चकाचौंध भरे परिदृश्य में कवयित्री को लालटेन की याद आती है जिसकी आत्मीय मद्धिम लौ में चीजों की परछाई भी दीखती थी—“इन दिनों रोशनी के आतंक में/अक्सर तिराहित हो जाती है/शब्दों की रोशनी/मद्धिम रोशनी में केवल चीजें ही नहीं दीखती/उससे बनती बिगड़ती परछाई और/उसमें डूबता-उतराता अपना चेहरा भी।”

वर्तमान जीवन की संवेदनहीनता और आडंबर कवयित्री को बार-बार अतीत की ओर खींच ले जाता है। इन स्मृतियों के आलोक में वर्तमान का दंश और भी गहरा हो जाता है।

कवयित्री के पास स्मृतियों का एक भरा-पूरा संसार है। ये स्मृतियाँ बार-बार उनकी कविता में दस्तक देती हैं। वस्तुतः स्मृतियों से औरत का अटूट रिश्ता होता है, जो कविताओं में भी दुधमुँहे बच्चे की गंध की तरह रच-बस जाती है। जिस अतीत को अपने स्तन के दूध की तरह अपनी हड्डी मज्जा से वह सींचती है, उसे भुला पाना क्या इतना आसान होता है? स्मृतियाँ कभी आईना बनकर, कभी लालटेन बनकर उपस्थित होती हैं। इनमें कवयित्री का वर्जनाहीन बचपन, खुला आसमान, चिड़ियों की उड़ान, पिता की प्रेरणा, मां का स्नेह, प्रियतम का सुखद सान्निध्य शामिल है। वैशाली के खंडहर व कबीर की लुकाठी से भी कवयित्री की स्मृतियाँ समृद्ध हैं। इन्हीं में टूटे सपनों का दंश, मृत बेटे की स्मृति भी शामिल हो जाती है।

रश्मिरेखा की कविताएं मुखर नहीं, खामोशी हैं। खामोशी को उनकी हर कविता में महसूस किया जा सकता है। इस खामोशी का एक स्त्री का नियति से गहरा संबंध है। इस खामोशी का अपना एक इतिहास रहा है। इसके पीछे युगों का षड्यंत्र शामिल है—“एक चुप्पी के ताले के पीछे दफन किया जा रहा था/इतिहास”। हथेली की रेखाओं के बीच मुट्ठी में जो आकाश बंद था, वह सहमे हुए समय के बीच कहीं खो गया था और ‘एलोरा की गुफाओं सी लंबी चुप्पी’ इस स्त्री की नियति बन जाती है। यह वह लड़की है जिसे मां ने व्यावहारिकता सिखाई, पिता ने कलम पकड़ाई ताकि वह भविष्य गढ़ सके। पर नहीं



दिए तो वह पंख जिससे वह उड़ान भर सकें। घर की चारदिवारी में बंद जिंदगी में एक खिड़की है। यह खिड़की जब बाहर की तरफ खुलती है तो इसे दीख पड़ती है वंचितों की एक दुनिया और जब मन के अंदर खुलती है तो खोजती है अपने उस पंखों को ‘जो पिता ने आते समय दिये ही नहीं/मां ने चुपचाप रख लिए थे अपने पास/बक्सों में रखे अपने कटे पंखों के ऊपर।’

इस लड़की के सपनों व कविताओं को पतिगृह में कोई जगह नहीं मिलती। उसका दोष यह है कि न वह वस्तु बन पाई, न वनस्पति की तरह दूसरी जगह आरोपित हो पाई। नतीजा, दुर्बल पंखों वाली चिड़िया की तरह वह अपने घोंसले में लौट आती है। इसलिए वह अपनी बेटी को भी इस धरती पर आने से मना करती है क्योंकि वह जानती है कि अभी यहां उसके लिए कोई जगह नहीं बनी।

कवयित्री की यह खामोशी उन्हीं के शब्दों में ‘बेहिसाब बोलती है’—‘शताब्दियों का दर्द समेटे/कई-कई जुबानों में हकला रही थी पीड़ा।’ पर आश्वस्तिपरक यह है कि कवयित्री खामोश नहीं रह जाती—“भीतर ही भीतर/एक पूरे युद्ध की विभीषिका झेलती/यह बर्फ-सी खामोशी/एक साथ कई-कई सुरंगों की भाषा उपजा रही है/हमें दिखाएं मिलती जा रही हैं।’

यह समय ही था जिसने स्त्री को खामोश

कर दिया था—और यह समय हम हैं जिसके उसे दिखाएं दी। नई सदी ने स्त्री को उसका खोया हुआ आमसान दिखाया। कवयित्री अब किसी मसीहे का इंतजार नहीं करती, अपने हाथों पर भरोसा रखती हैं—“अब उस खुशनुमा सुबह के लिए आज की रात/किसी मसीहे की इंतजार में/पहले की तरह/टकटकी बांधे नहीं काटूंगी/गंतव्य तक पहुंच पाने के लिए/अब तो हमारी हथेली की इन्हीं रेखाओं में उभरेगा/सफर का आखिरी नक्शा।’

इस प्रकार ‘एलोरा की गुफाओं की लंबी खामोशी’ अंततः अपनी भाषा तलाश लेती है—“रात के आईने में कितना भी गहरा पुता हो स्याह/गौर से देखो तो उसमें/दिखाई पड़ेगा सुबह का चेहरा।’

रश्मिरेखा की कविताएं वे खिड़की हैं जो अंदर भी खुलती हैं और बाहर भी। अपने समय की हलचल के साथ-साथ वे समय के द्वंद्वों को भी उसकी बारीकी में पकड़ती हैं। उनकी कविताओं में बाजारवाद की चमक, राजनीति की चतुर चालें, लोकतंत्र के छद्म आदि भी शामिल हैं और अंतर्मन की खामोश व्यथा भी। अपने समय की विडंबना में खो गई पहचान को तलाशने का ये प्रयास अपने युग से भी जुड़ा है और उस युग के संघर्ष के उत्पन्न अंतर्द्वंद्व से भी। यहां उस स्त्री-दृष्टि का संधान किया जा सकता है जो अनायास ही ऐसी चीजों से जा जुड़ती है जो अपना सब कुछ देते हुए खुद अस्तित्वहीन हो गई है। ये कविताएं स्त्री वेदना और हाहाकार का एक ऐसा इतिहास छुपाए हुए हैं जो एक पीढ़ी की अधिकतर स्त्रियों द्वारा भुगता गया एक ऐसा सच है जो अब तक अनभिव्यक्त ही रहा था। कवयित्री अपनी खामोशी में ही बहुत कुछ सह ले जाती है अर्थ की सीमाओं से परे जाकर। इस प्रकार छोटी-छोटी चीजों, छोटी-छोटी टीसों, छोटे-छोटे परिदृश्यों द्वारा वे अपने समय का विराट आख्यान प्रस्तुत करती हैं।

सीढ़ियों का दुख/रश्मिरेखा/प्रकाशन संस्थान, 4268-बी/3, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 150

306, साई कारनेशन, बहादुरपुर, पटना, मो. 09473242999,

भक्ति आंदोलन और कविता

रणजीत साहा

डा.

शिवकुमार मिश्र हिंदी आलोचना के क्षेत्र में सुप्रतिष्ठ एवं महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। उनकी कृतियों को न केवल हिंदी के सुधी पाठक बल्कि अध्येता और आलोचक सभी पढ़ते हैं और उनसे प्रेरणा लेते हैं। प्रस्तुत पुस्तक लंबे समय से चर्चित और बहुप्रशंसित रही है तथा पाठकों की बढ़ती माँग के कारण अप्राप्य थी, जिसका नया संशोधित संस्करण 2010 में प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तक में उन्होंने भक्ति आंदोलन तथा समीक्ष्य कवि-रचनाकारों की लोकधर्मी चेतना, आत्मसम्मान से दीप्त उनके प्रेरक व्यक्तित्व और उनकी अंकुठ मनुष्यता को, नए संदर्भों के साथ उजागर किया है।

हिंदी साहित्य के इतिहास में युगीन साहित्य को हमेशा सम्मान की दृष्टि से देखा गया है। भक्तिकाव्य से भारतीय जन समाज निरंतर सहज आत्मीयता का अनुभव करता रहा है। आराध्य के प्रति अपनी आस्था, अस्मिता और निष्ठा का ज्ञापन करते हुए लोग जिन भक्त कवियों की रचनाओं की शरण में जाते हैं—वे प्राचीन होते हुए भी अनिवार्य एवं अर्वाचीन बने हुए हैं। पिछली चार शताब्दियों से आज भी पूरे वेग से, लोगों को प्रभावित करने वाले, भक्ति आंदोलन से जुड़े उन असंख्य कवियों की भूमिका का आकलन पूरी तरह कैसे संभव हो सकता है? बहुत पहले, डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा था, “भक्ति आंदोलन आखिल भारतीय है। देश और काल की दृष्टि से ऐसे व्यापक सांस्कृतिक आंदोलन संसार में दूसरा नहीं है।...देश और प्रदेश एक साथ; राष्ट्र और जाति की सांस्कृतिक धाराएँ एक साथ। भक्ति आंदोलन की व्यापकता और सामर्थ्य का यही रहस्य है।” (परंपरा का

मूल्यांकन, पृ. 90-91)

समीक्ष्य पुस्तक के प्रथम अध्याय ‘भक्ति आंदोलन’ में लेखक ने इस युगांतरकारी महान घटना को मूलतः धार्मिक-सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में रखा-परखा है। उन्होंने भारत ही नहीं, यूरोप का हवाला देते हुए यह बताया है कि कैसे प्रत्येक क्रिया-कलाप के मूल में धर्म अपनी केंद्रीय स्थिति को सूचित करता है। मार्क्स द्वारा धर्म को अफीम की संज्ञा दिया जाना तो जगज़ाहिर बात है। यहाँ लेखक ने के.दामोदरन की एक महत्त्वपूर्ण अभ्युक्ति उद्धृत की है—“अपने विकास की एक विशेष अवस्था में धर्म सामाजिक गुण प्राप्त कर लेता है और इतिहास की आर्थिक और सामाजिक शक्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाला बन जाता है। इसी रूप में आर्यों के देवताओं ने, जो आरंभ में प्रकृति की शक्तियों के मूर्तिकरण थे, सामाजिक महत्त्व और सामाजिक गुण अर्जित



कर लिए। इस रूपांतरण से लोगों को एक हद तक सात्वना और काल्पनिक सुख भी मिला और जीवन की कठिनाइयाँ झेलने में उन्हें आसानी मालूम हुई।” (पृ. 17)

भक्ति आंदोलन भक्ति के अनिवार्य तत्त्वों की विभिन्न संप्रदायों में कमोबेश स्वीकृति और लोक की सहमति के अनुरूप ही—व्यापक से व्यापकतर होता चला गया। लेखक ने उन मूलवर्ती आस्थाओं को रेखांकित किया है, जिनमें प्रमुख हैं—“धार्मिक विचारों के बावजूद जनता की एकता, ईश्वर के समक्ष सबकी समानता, जाति प्रथा का विरोध, इस विचार का प्रसार कि मनुष्य और ईश्वर के बीच तादात्म्य मनुष्य के सद्गुणों पर निर्भर करता है, न कि उसकी ऊँची जाति तथा धन-संपत्ति पर। साथ ही, इस विचार पर जोर कि भक्ति ही आराधना का उच्चतम स्वरूप है तथा बाह्याचारों, कर्मकांडों आदि की निंदा तथा भर्त्सना। ‘मनुष्य सत्य’ को सर्वोपरि मानते हुए वर्गगत, जातिगत एवं भेदभावों तथा धर्म के नाम पर किए जाने वाले उत्पीड़न का दृढ़ विरोध।” (पृ. 21)

प्रस्तुत आलोचना ग्रंथ में लेखक ने सांप्रदायिक उपपत्तियों और भक्ति की शास्त्रीय व्याख्याओं से अलग हटकर भक्ति तत्त्व के विभिन्न प्रस्थानों, ऐतिहासिक सरणियों और लोक में भक्ति की व्याप्ति को अपने विश्लेषण का आधार बनाया है इसलिए जैसा कि ऊपर बताया गया इसमें लोक ‘आराध्य’, ‘आराधक’ और ‘मनुष्य’ (साधक, भक्त) को वैसा ही दर्जा दिया गया है ताकि भक्ति की समकालीन, रचनात्मक और लोकोपयोगी व्याख्या हो सके।

यदि इस विवाद को न उठाया जाए कि भक्ति का प्रादुर्भाव कहाँ और किन स्थितियों में हुआ एवं भक्ति आंदोलन के बहाने

उत्तर-दक्षिण की भौगोलिक सीमाओं को बांटने का नकारात्मक प्रयास न किया जाए तो वैदिक, औपनिषदिक और भागवती भक्ति की भाव-यात्रा वैष्णव आचार्यों और सम्मानित पादपीठों के माध्यम से उत्तर मध्यकाल तक अपने प्रकर्ष पर पहुंच चुकी थी। विभिन्न संप्रदायों के समानांतर लोक में व्याप्त भक्ति की जो समृद्ध परंपरा थी, उसे निर्गुण पंथियों, संतों, सूफियों और लोकसाधकों ने नई ऊर्जा प्रदान की। भक्ति के विकास की सरणी और लेखक ने इस दिशा में के.दामोदरन, सर जार्ज ग्रियर्सन, परशुराम चतुर्वेदी, बलदेव उपाध्याय, रामचंद्र शुक्ल, हज़ारीप्रसाद द्विवेदी आदि के विचारों एवं वक्तव्यों को विश्लेषित किया है। यहां तथ्य ग.मा.भक्तिबोध द्वारा उस प्रश्नाकुल को उजागर किया गया है कि क्या कारण थे कि भक्ति आंदोलन को मूलतः उच्च वर्गों तथा ऊंची कही जाने वाली जातियों के खिलाफ निम्न वर्गों तथा जातियों के आवश्यक विद्रोह के रूप में देखा गया है। जबकि भक्ति आंदोलन में ऊंची जातियों के भक्तों तथा संतों का भी योग रहा और उन्हें निम्न वर्गों के लोगों की आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करना पड़ा। उनका दूसरा सवाल कहीं अधिक तिलमिला देने वाला है कि रामभक्ति शाखा के अंतर्गत एक भी प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण कवि निम्नजातीय शूद्र वर्गों से क्यों नहीं आया?" क्या यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि कृष्णभक्ति शाखा के अंतर्गत रसखान और रहीम जैसे हृदयवान मुसलमान कवि बराबर रहे आए किंतु रामभक्ति शाखा के अंतर्गत एक भी मुसलमान और शूद्र कवि, प्रतिभाशाली और महत्त्वपूर्ण रूप से अपनी काव्यात्मक प्रतिभा विशद नहीं कर सका।" (पृ. 24)

जो भी हो, वैष्णव मत की विराट परिकल्पना में क्रमशः शास्त्रवादी एवं लोकवादी दृष्टि समाजित हो गई, जिसमें भक्ति का लोकसुलभ रूप सहज उपलब्ध था। वैष्णव मन में आराध्य के अवतारी रूप को जितने सहज, मानवीय, प्रेमिल, आत्मीय एवं प्रशस्त रूप में प्रस्तुत किया गया, उतना किसी अन्य संप्रदाय या पंथ में नहीं। इसलिए रामचंद्र शुक्ल का भी यह मानना था, कि भक्ति का सर्वोत्तम रूप वैष्णव मन में ही मिलता है। भक्ति के इस सहज, सुलभ और प्रेममय रूप ही अवधारणा और उपासना में वैष्णव मतवाद

ही अग्रणी भूमिका निबाहता रहा।

लेखक का मानना है कि रामचंद्र शुक्ल से लेकर नामवर सिंह तक ने भक्ति आंदोलन और भक्तिकाल के समाजार्थिक पहलुओं को उभारते हुए तमाम प्रश्न फिर से उठाए। परिणामतः इनका सही सामाजिक-सांस्कृतिक पहलू पृष्ठभूमि में ही दबा रहा। ज़रूरत है भक्ति काव्य की सामाजिक पीठिका पर अंतःसाक्ष्य और बहिर्साक्ष्य—दोनों की संगति में इसे पहचानने और उभारने की। इस पुस्तक के अध्याय तीन से लेकर अंत तक, टुकड़े-टुकड़े में, कबीर (दो अध्याय) जायसी (तीन अध्याय), सूरदास (दो अध्याय), तुलसीदास (तीन अध्याय), मीरा (दो अध्याय), मध्यकालीन संत और भक्त : स्त्री और स्त्री-अस्मिता से जुड़े सवाल (अध्याय 17), पर पुस्तक की मूल संकल्पना से अलग—भक्तिकाल के विशिष्ट हस्ताक्षरों के योगदान पर चर्चा की गई है। चूंकि इन विवरण बहुल अध्यायों में विमर्श का अभाव है इसलिए इनकी प्रस्तुति का स्वर और स्वरूप रोचक और सूचनाप्रद होते हुए भी अभिशंसात्मक हो गया है।

अंतिम दो लघु अध्यायों 'भक्ति काव्य और लोक धर्म' तथा 'सामाजिक सांस्कृतिक प्रदेय' में अवश्य ही लेखक ने 'लोक तत्त्व' के अलग-अलग रूपों को पहचान कराई है। कैसे मीरा का लोकविरोधी आचरण भी भक्ति के निकष पर श्लाघ्य या स्पृहणीय बन जाता है। और कैसे सूरदास की भोली और अपढ़ गोपिकाएँ कृष्ण-वंशी की टेर पर निछावर और लोक-लाज बिसराकर, महारास में सम्मिलित हो जाती हैं। जायसी ने 'पद्मावत' काव्य का सारा पूर्वार्द्ध लोक वृत्त और लोक रूढ़ियों से समृद्ध कर ही प्रस्तुत किया था। लेखक ने यहां भक्ति काव्य की सामाजिक-सांस्कृतिक उपलब्धियों का संक्षिप्त किंतु अर्थवान विवेचन किया है। उनके ही शब्दों में, "समूचा भक्तिकाव्य प्रशस्त मानवीय सरोकारों का, गहरी मानवीय चिंता का, मानव करुणा का काव्य है। सब कवियों की सामाजिक सोच एक जैसी भले नहो, उसका मूलवर्ती स्वर उदात्त है, वह मनुष्य के सामाजिक न्याय के पक्ष का काव्य है।" (पृ. 294)

भक्ति की चर्चा करते हुए नवधा भक्ति (भजन, पूजन, पादसवन आदि) की अक्सर चर्चा की जाती है लेकिन लेखक ने भक्ति काव्य के आलोक में 'भक्ति' के साथ 'प्रपत्ति'

की महत्ता को उजागर किया है, जिसे न केवल रामचंद्र शुक्ल बल्कि हज़ारीप्रसाद द्विवेदी भी भक्ति की चरमावस्था मानते हैं। जहां तक 'भगत' कबीर की बात है, उनकी भक्ति यही सर्वस्व समर्पण ही उसकी चरितार्थता है।... अर्थात् सीस काटकर ज़मीन पर रख देना, तब देहरी पार कर भीतर जाना—'सीस उतारे भुई घरे, सो घर पैठे आहि।' (पृ. 97)

सगुण और निर्गुण भक्तों के अन्तर्विरोधों के बारे में प्रसंगानुसार कई स्थलों पर प्रस्तुत पुस्तक में चर्चा है। जहां तक सगुण भक्तों का सवाल है, उनके अंतर्विरोध का स्वरूप यह है कि जहां और जब भी वे भक्ति आंदोलन की उदात्त मानवीय चेतना से एक-तान हुए हैं, वे निर्गुण भक्तों के समान ही मनुष्य सत्य का उद्घोष करते हैं, मनुष्य के प्रति होने वाले सामाजिक अन्याय का प्रतिवाद करते हैं। उन सामाजिक और मानवीय मूल्यों की हिमायत करते हैं जिनके पक्ष में निर्गुण संत खड़े हुए थे। किंतु जब वे भक्ति आंदोलन की उदात्त चेतना से अलग उन संस्कारों से बंध जाते हैं जो परंपरा, समाज और उनकी वंश (या संप्रदाय) ने उन्हें दिए हैं तो वे परंपरागत सामाजिक सोच के अधीन उस व्यवस्था की हिमायत करने में जुट जाते हैं जो शास्त्रसम्मत और वेद विहित है और तब लोकमंगल और लोकमर्यादा के अनन्य नायक भक्त तुलसीदास को भी यह लिखने को बाध्य हो जाते हैं—'पूजिय त्रिप सील गुन हीना। सुद्र न गुनगान-ज्ञान प्रवीना' जो प्रसिद्ध, नीतिज्ञ और लोक-व्यवस्थापक कौटिल्य के विप्रवचन का ही अनुवाद है—'पतितोऽपि द्विजः श्रेष्ठो न च शूद्रो जितेन्द्रियः।' (द्रष्टव्य, पृ. 235)

दूसरी ओर, निर्गुण और सगुण मतवाद संबंधी सारे विवाद में भ्रम और वास्तविकता के बीच सूर ने वास्तविकता का समर्थन किया, संसार के मिथ्यात्व का खंडन कर उसकी सत्यता को प्रतिष्ठित किया। रहस्य और योग तथा ज्ञान और वैराग्य की तुलना में सहज सांसारिक धर्म की विजय दिखाई।

लेखक ने यह भी स्पष्ट किया है कि हम आज भक्तिकाव्य जैसा काव्य आज नहीं चाहते पर "जिन मूलवर्ती गुणों के कारण भक्ति कविता कालजयी हुई वे गुण ज़रूर उससे लेना चाहते हैं।..आज ज़रूरत है भक्ति के इन रचनाकारों को उस दुष्क्रम के दायरे से खींच

लाने की जो भजन-पूजनवादी लोगों ने उनके चारों ओर फैला रखा है। डॉ. रामविलास शर्मा बड़े स्तर पर यह कार्य किया है, हमें उनके कार्य को आगे बढ़ाए रखना है।” (भूमिका, पृ. 11)

इस उपक्रम में लेखक ने प्रमुखतः के. दामोदरन, रामचन्द्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी मुक्तिबोध और रामविलास शर्मा के साथ अंशतः रांगेय राघव, शिवदान सिंह चौहान, रामस्वरूप चतुर्वेदी, रमेश कुंतल मेघ और विश्वनाथ त्रिपाठी के मंतव्यों को भी अपने विवेचन में स्थान दिया है ताकि विमर्श की निरंतरता बनी रहे।

अंत में ‘जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै’ शीर्षक से जुड़ा (बीसवां अध्याय) दस एवं ग्यारह संख्यक अध्यायों में, जहां सूरदास पर चर्चा की गई थी—में ही संयोजित किया जा सकता था। चूंकि यह चर्चा बाज़ार और आज के बाज़ारवाद से संबंधित है, इसलिए सूरदास की क्यों, हमारी संपूर्ण साहित्य सत्ता और सांस्कृतिक अर्थवत्ता—दांव पर लगी हुई हैं और पॉप गायिका मेडोना को भी छह सौ साल बाद कबीर को भरे बाज़ार लाना पड़ा है। विषयांतर के बावजूद, यह एक सांस्कृतिक प्रवक्ता के नाते पाठकों एवं अध्येताओं को सतर्क ही नहीं, आमंत्रित भी करता है ताकि वह कबीर के साथ ‘बाजार’ में खड़ा हो जाए—हाथ में ‘लुकाठी’ लिए।

इस कृति को दोबारा नए सिरे से प्रकाशित करते हुए, इसमें लेखक और प्रकाशक दोनों को महत्वपूर्ण अन्य विद्वानों एवं विचारकों की उद्धृतियों एवं टिप्पणियों के स्रोत एवं पृष्ठादि का हवाला भी देना चाहिए था, जिनसे पुस्तक का मान बढ़ता है। पिछले तीस-पैंतीस वर्षों में हिंदी के ही नहीं, भारतीय भाषाओं के अन्य कई विद्वानों ने भक्ति आंदोलन से जुड़े तथ्यों और प्रश्नों पर विचार किया है लेकिन लेखक ने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया है। लेकिन जो नहीं है उस पर क्या कहना! वर्तनी की अशुद्धियाँ कम हैं, यह सुखद है लेकिन इस पाठकोपयोगी पुस्तक की कीमत अधिक है, यह दुःखद है।

भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य/ शिवकुमार मिश्र, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, 211001, मूल्य : ₹ 350/-

भारतीय भाषा केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067, फोन : 011-255440018, मो. : 9811262257

आलोचना

सांस्कृतिक प्रतिरोध की रणनीति

श्याम कश्यप

श

मशेर बहादुर सिंह ने सन् '48-'50 के ज़माने का स्मरण करते हुए अपने एक संस्मरण में, ‘सफल इमेजिस्ट कविताएं’ लिखने वाले नामवरजी के बारे में, 1977 में लिखा था : “ज़ल्द ही, नामवर के युवा कवि को उसके वयस्कतर होते माक्सिस्ट आलोचक ने दबा दिया! निश्चय ही व्यक्तिगत भावनाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण थीं व्यापक सांस्कृतिक समस्याएँ।” (‘आलोचक नामवर सिंह’, डॉ. रणधीर सिन्हा, पृ. 176) इन महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक समस्याओं से सीधी टकराहट का ताज़ा दस्तावेज़ है नामवरजी की चौथी किताब : ‘जमाने से दो दो हाथ’। इसी संस्मरण में शमशेर उन पर अकबर इलाहाबादी का यह शेर चस्पा करते हैं—

हमारी बातें की बातें हैं,—सैयद काम करता था!

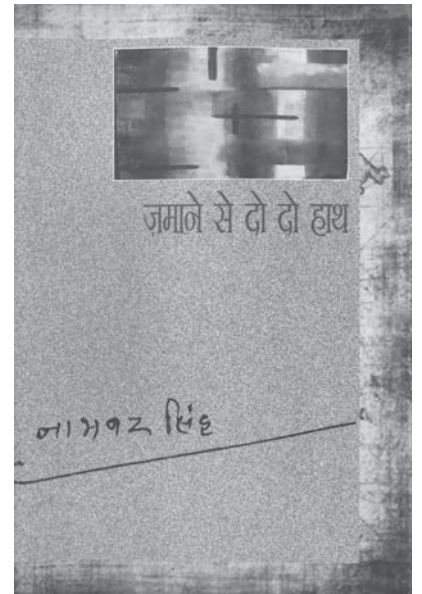
न भूलो फ़र्क़ जो है कहने वाले करने वाले में!

‘सैयद’ माने सर सैयद अहमद खां। संदर्भ ‘कर्मठता’ का है। और कौम को वैज्ञानिक शिक्षा और सोच की ‘नई तालीम की ओर फेरने’ का। कहना न होगा कि कर्मठता और जुझारूपन की समानता के बावजूद, नामवरजी की सोच और वैज्ञानिक दृष्टि भिन्न है। उनकी ‘कौम’ भी बहुत बड़ी है। बहुत व्यापक और विराट्! बकौल शमशेर, ‘मैं दिल्ली में आने से पहले तक डॉ. नामवर सिंह को कभी-कभी सैयद कह दिया करता था।’ सैयद का काम अभी भी जारी है। सतत्। अनथक।

भीष्म साहनी ने सिन्हा की इसी पुस्तक में ‘सैयद’ के काम को अपने काल के यथार्थ को समझने और परखने का सतत् प्रयास कहा है। नामवरजी की पूर्व-समीक्षित तीनों

किताबों के केंद्र में साहित्य और उसमें प्रतिबिंबित ‘काल का यथार्थ’ और उसकी संवेदनात्मक मीमांसा है। इस चौथी किताब में काल के साक्षात् आसन्न यथार्थ का सर्वाधिक भयावह और काला सख्त रोंयेदार पंजा है। खतरनाक और घिनौना। यह कृति इसी पंजे को मरोड़कर परास्त करने का सतत् प्रयास है। एक अत्यंत संवेदनशील किंतु जागरूक लेखक और संस्कृतिकर्मी का कलात्मक प्रयास। भूमंडलीकरण, फासीवाद, संप्रदायिकता और संस्कृति के सवाल पर केंद्रित आलेख, भाषण और टिप्पणियां।

नामवरजी ‘कहना न होगा’ (सं. समीक्षा ठाकुर) में ‘सफाई’ देते हैं : “बातें बातें बातें। बातें ही तो करता रहा हूँ अब तक। ‘कभी इनसे बात करना, कभी उनसे बात करना।’ और नहीं तो आप ही आप।” यानी संवाद और एकालाप! फिर चाहे वे भाषण हों या साक्षात्कार और चाहे आलेख हों या टिप्पणियां।



इस अप्रतिहत योद्धा की इन बातों-बातों-बातों से ही उभरती है सांस्कृतिक प्रतिरोध की एक कारगर कलात्मक रणनीति। ज़माने से दो-दो हाथ करते हुए! फ़ासीवाद, सांप्रदायिकता, भूमंडलीकरण और अपसंस्कृति की यह **संघर्ष-मीमांसा** लिखते हुए नामवरजी एक ओर यदि आसन्न खतरों और समकालीन चुनौतियों का सामना करते हैं, तो दूसरी ओर इतिहास और परंपरा की जड़ों को भी टटोलते हैं। सदियों की धुंध और कोहरे से जूझती। इस संघर्ष-मीमांसा के संदर्भ यदि राष्ट्रीय और वैश्विक फलक पर हैं, तो इसके केंद्र में है हमारा **हिंदी-प्रदेश**। भक्ति-आंदोलन के लोकजागरण, 1857 के प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम और साम्राज्य-विरोधी मुक्ति-युद्ध केंद्र और मुख्य-भूमि होते हुए भी, हर दृष्टि से पिछड़ा और सामंती रूढ़ियों का गढ़ : हमारा हिंदी-प्रदेश! भाषावार प्रांतों के बीच एकमात्र विभाजित और टुकड़े-टुकड़े होता हमारा जातीय प्रदेश!

यह विभाजन सिर्फ भौगोलिक ही नहीं है। मंडल से कमंडल तक यह हिंदू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता और जात-पात से लेकर कुनबे-कबीले और भाषा का विभाजन भी है। एक ही **हिंदी जाति** का धर्म और भाषा के आधार पर यह सांप्रदायिकता विभाजन सबसे ज़्यादा घातक है। जातीय भाषा के इस विभाजन और उससे जुड़ी सांप्रदायिक राजनीति और सत्ता के अवसरवादी खेल को नामवरजी ने कितना दिल पर लिया है, यह इस मार्मिक प्रसंग से स्वतः उजागर है—

*“सब मेरे चाहने वाले हैं मेरा कोई नहीं,
मैं भी इस देश में उर्दू की तरह रहता हूँ।*

निदा फ़ाजली के इस शेर को सुनकर मेरी आंखों में आंसू आ जाते हैं। निदा फ़ाजली ने ‘मुल्क’ नहीं ‘देश’ कहा है।” वे ध्यान दिलाते हैं कि “14वीं सदी से 20वीं सदी की शुरुआत तक सूफ़ी कवियों की भाषा अवधी थी पर लिपि उर्दू थी। वे मुख्यतः मुसलमान थे।”

बोलचाल की एकभाषा (खड़ी बोली) के हिंदी और उर्दू, दो भाषाओं में बंटने पर प्रेमचंद के मलाल का ज़िक्र करते हुए वे उन्हें उद्धृत करते हैं : “यह सारी करामात कोर्ट विलियम कॉलेज की है जिसने एक ही ज़बान में दो रूप मान लिए।...जिन हाथों ने

यहां की ज़बान के उस वक्त दो टुकड़े कर दिए, उसने हमारी कौमी ज़िंदगी के दो टुकड़े कर दिए।” नामवरजी के अनुसार गिलक्राइस्ट पहले अंग्रेज़ हैं जिन्होंने मज़हब के आधार पर भाषा का विभाजन किया और उर्दू का संबंध मुसलमानों से जोड़ा। वे **पं.अ. बरान्निक्वोव** की पुस्तक **‘स्वतंत्र भारत : जातीय तथा भाषाई समस्या’ (1986)** के हवाले से यह भी बताते हैं कि उपनिवेशवादी अंग्रेज़ों के ठीक उल्टा मत सोवियत भाषाविदों का है : एक ही जनगण को, जिनमें निर्माणाधीन जाति के सभी लक्षण और सर्वोपरि एक राज्य के ढांचे के भीतर क्षेत्रीय एकता के लक्षण विद्यमान हैं, दो भिन्न भाषाएं, अर्थात् हिंदी और उर्दू बोलने वाले दो जनगण में विखंडित नहीं किया जा सकता।

नामवरजी मानते हैं कि 1947 से पहले उर्दू की मांग मुस्लिम अलगाववाद की राजनीति का अंग थी और आज वह ‘उर्दू-जेहादियों’ के हाथों अलपसंख्यक सांप्रदायिकता का : “जिस भाषा का साहित्य संप्रदायवाद के विरुद्ध संघर्ष का शानदार दस्तावेज़ हो, वह उर्दू स्वयं सांप्रदायिक तत्वों के हाथों में खेल जाए, इससे बड़ी विडंबना और क्या होगी?” लेकिन वे इससे बड़ी विडंबना की ओर भी इशारा करते हैं : “कैसी विडंबना है कि ‘इंडो-रोमन’ कहकर ‘रोमन’ लिपि को तो अपना लेना चाहते हैं, पर एक भारतीय लिपि गले के नीचे नहीं उतरती। यह वही मनोवृत्ति है जो अंग्रेज़ी को तो गले लगा सकती है पर हिंदी सहने के लिए तैयार नहीं।” विडंबना यह कि 1935 में **प्रगतिशील लेखक संघ** के लंदन में तैयार घोषणापत्र में भी देश की मुश्तरका **ज़बान ‘हिंदुस्तानी’ की मुश्तरका लिपि ‘इंडो-रोमन’ प्रस्तावित थी**। नामवरजी के अनुसार फ़ारसी ने अगर 6सौ वर्षों तक उत्तर भारत की भाषाओं को दबाने को कोशिश की तो यही काम उर्दू ने अंग्रेज़ी के साथ मिलकर सौ वर्षों तक किया।

इस अलगाववादी मनोवृत्ति का एक और ज्वलंत उदाहरण वे देते हैं कि “उर्दू ने बोलचाल की क्रिया ‘लिखना’ तो ले ली लेकिन इसी से बनने वाली संज्ञा ‘लेखक’ नहीं ली। उर्दू में लेखक के लिए ‘मुसन्निफ़’ शब्द है। कितनी बड़ी विडंबना है कि जनता के लिए लिखने वाले लेखकों के संगठन का नाम

‘अंजुमन तरक्की पसंद मुसन्निफ़ीन’ है। उम्मीद की जाती है कि अवाम इसका मतलब समझ लेगा।” वे मानते हैं कि उर्दू की तस्वीर एक ऐसी ‘कलमी’ भाषा के रूप में उभरती है जिसे भाषाविज्ञानी ‘क्रियोल’ और ‘पिजूइन’ कहते हैं। इन सांप्रदायिक और अलगाववादी प्रवृत्तियों के खिलाफ़ वे सुगठित जातीय एकता को आज बुनियादी सवाल मानते हैं; जिसका सही हल राष्ट्रीय एकता और अखंडता को मज़बूत करेगा।

समकालीन इतिहास के बहुत गहरे, अभूतपूर्व और सर्वग्रासी संकट का ज़िक्र करते हुए नामवरजी लिखते हैं कि “इस संकट के बारे में एक और दृष्टि भी है। इस दौर के विध्वंस उस दृष्टि से एक प्रकार का नवनिर्माण है। (बाबरी मस्जिद विध्वंस : राममंदिर-निर्माण का आंदोलन-ले.) सोवियत समाजवाद का अंत उनके लिए शैतान का अंत है और बाबरी मस्जिद का विध्वंस सदियों पुराने अत्याचार का समुचित प्रतिशोध। सेकुलर संस्कृति की परंपरा अभागी होने के कारण त्याज्य है और नेहरूयुगीन विकास की राष्ट्रीय परियोजना उदार विकास में बाधक होने के कारण अपनी असफलता प्रमाणित कर चुकी है। भूमंडलीकरण में उन्हें राष्ट्रीय प्रगति की अपार संभावनाएं दिखाई पड़ रही हैं और किसी एक राजनीतिक पार्टी की सरकार की जगह भाजपा के नेतृत्व में स्थापित हो दर्जन पार्टियों की खिचड़ी सरकार अधिक लोकतांत्रिक प्रतीत हो रही है। गरज की आसन्न संकट उन लोगों के लिए चिंता का विषय नहीं, बल्कि हर्षोल्लास का क्षण है।” नामवरजी के अनुसार जैसी उल्लसित लोगों में अधिकांशतः वही हैं जो मस्जिद के मलबे पर रामलला का एक नया मंदिर बनाने की तैयारी कर रहे हैं। इन्हीं लोगों ने मोदी के गुजरात के दंगों में कल्लेआम करके ‘सांस्कृतिक राष्ट्रवाद’ का जयगान किया था। अब वे मोदी और गुजरात का प्रयोग सारे देश के पैमाने पर दोहराना चाहते हैं।

नामवरजी के अनुसार अब “उन्हें केंद्र में भी एक मोदी चाहिए—यह दूसरा मोदी भी गांधीनगर से ही आए तो क्या कहने। फिर तो पूरे भारत को रामराज्य बनाने में कोई दिक्कत न होगी। गांधी जी रामराज्य स्थापित न कर पाए, उसे ‘अब ‘गांधीनगर’ पूरा करेगा।” इसी संगठन (आर.एस.एस. राष्ट्रीय

स्वयंसेवक संघ) से जुड़े लोगों ने गांधी की हत्या की और उसे 'गांधी-वध' कहा। जैसे रावण-वध, मेघनाद-वध। आज इनके नाम अनेक बम-विस्फोटों और आतंकवादी कार्रवाइयों को अंजाम देने वालों में सामने आ रहे हैं। नामवरजी चेतावनी देते हैं कि "इस हिंदू फ़ासीवाद की ताकत को कम करके आंकना ठीक न होगा। पुलिस, प्रशासन, न्यायपालिका आदि राजतंत्र के विविध अंगों के अलावा इस बीच सेना के अंदर भी इस चेतना ने संधे लगा ली है। इन सबके अलावा संघ-परिवार की अपनी विशाल वाहिनी अपनी जगह है, जैसे विश्व हिंदू परिषद, बजरंग दल, हिंदू जागरण मंच आदि दर्जनों छापामार टुकड़ियां। अक्सर शिवसेना भी मौके पर साथ खड़ी हो जाती है।" नामवरजी ध्यान दिलाते हैं कि आज का हिंदू फ़ासीवाद एक प्रकार का सांस्कृतिक छल है। बाज़ार के कारोबार में भूमंडलीकरण, लेकिन संस्कृति के मामले में 'स्वदेशी' का आग्रह। उन्होंने इनके सभी तमाशों को **फ़ासीवाद का नया सौंदर्यशास्त्र** कहा है।

आजकल जिस आधुनिकतावाद, उत्तर-आधुनिकता और टेक्नोलौजी की बहुत बातें होती हैं। साथ ही 'भारतीय अस्मिता' की खोज और नवगांधीवाद की भी। इन सभी को बेपर्दा करते हुए नामवरजी बताते हैं कि फ़ासिज़्म कोई प्राक्-औद्योगिक नहीं था, बल्कि घनघोर टेक्नोलौजी में विश्वास करता था। विचित्र तथ्य है कि आज हमारे देश में आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता और नव-उदारवादी भूमंडलीकरण तथा मार्केट एकोनोमी की बातें करने वाले, उनके पैरोकार, पढ़े-लिखे, पाश्चात्य मिज़ाज के लोग ही ज़्यादा साम्प्रदायिक और 'हिंदू' हुए हैं। यही लोग आज भारतीय संस्कृति और भारतीयता को लेकर ज़्यादा व्याकुल नज़र आते हैं। नामवरजी के शब्दों में "संस्कृति के नाम पर भूमंडलीकरण के द्वारा एक अपसंस्कृति बड़े पैमाने पर आ रही है जिसका गहरा असर घर में, आपके चूल्हे तक है।" वे ध्यान दिलाते हैं कि आज टेक्नोलौजी का भी ग्लोबलाइज़ेशन किया जा रहा है। और आज की यह टेक्नोलौली युद्ध-केंद्रित है। युद्ध अनिवार्यतः इसमें अन्तर्निहित है। डोर अमेरिका के हाथ में है।

इस प्रसंग में वे आगे लिखते हैं कि

"इराक़ के साथ जो हो रहा है, कल किसी और देश के साथ होगा। यह युद्ध की संस्कृति है। यद्यपि दोनों शब्द एक-दूसरे के विरोधी हैं। युद्ध में पहली हत्या संस्कृति और संस्कार की होती है। मनुष्य पशु की तरह लड़ता है। देख रहे हैं कि अमेरिका, इराक़ में कैसे लड़ रहा है। फिर गुजरात के दंगों को आपने देखा ही है। यह कत्ल और खून की संस्कृति है। इस प्रकार युद्ध एक घटना नहीं है, यह एक जंजीर है। इसी जंजीर से कहीं-न-कहीं जुड़ा है गुजरात भी।" इस अप-संस्कृति और बाज़ार अर्थव्यवस्था की उपभोक्ता संस्कृति के साथ ही युद्ध की संस्कृति, फ़ासिज़्म, कट्टर सांप्रदायिकता और धर्मोन्माद में भी पूरी दुनिया के पैमाने पर ज़बरदस्त उभार दिखाई दे रहा है। मूल प्रश्न है कि इसका प्रतिरोध कैसे करें, इससे लड़ने की और इसे परास्त करने की रणनीति क्या हो?

नामवरजी मानते हैं कि "इसको रोकने के लिए हमारे पास बहुत तत्व हैं। हमारी परंपरा में, हमारे स्वाधीनता आंदोलन में और सबसे ज़्यादा हमारे लोकजीवन में समरसता की जड़ें मज़बूत और गहरी हैं। वह हमारी सबसे बड़ी ताकत है। उन चीज़ों को पहचान करके और फिर उनके लिए काम करके हम मुक़ाबला कर सकते हैं।" इसके लिए राजनीतिक संघर्ष के अलावा एक तो साहित्य, कला, संगीत और संस्कृति के माध्यम से लोगों के संस्कारों में परिवर्तन लाया जा सकता है, उन्हें अपनी इस महान परंपरा, स्वाधीनता आंदोलन के इतिहास और उसके धर्मनिरपेक्ष स्वरूप से परिचित कराकर इस तरह लोकतांत्रिक और प्रगतिशील मूल्यों को सुदृढ़ किया जा सकता है। दूसरे, जो और भी बहुत महत्त्वपूर्ण और ज़रूरी है, वह है शिक्षा के माध्यम से स्कूल-स्तर के और फिर उच्चशिक्षा के क्षेत्र में नौजवानों को शिक्षित करके।

नामवरजी के अनुसार, "इतिहास की पाठ्यपुस्तक हो या भाषा की सांप्रदायिक विचारधारा के प्रभाव को काटने का तरीका क्या है?...कोई भी विचारधारा पाठ्यक्रम के रूप में ही सक्रिय हो ऐसा नहीं है। विचारधारा तो पढ़ाने के तरीके में भी व्याप्त होती है।" निराला की 'राम की शक्ति पूजा' संघी तरीके से भी पढ़ाई जा सकती है! इसलिए, वे सही

रणनीति यह मानते हैं कि "सांप्रदायिकता के विरुद्ध 'सेकुलर' विचारधारा को खड़ा करके नहीं, बल्कि प्रश्नाकुलता पैदा" करते और छात्रों में "साईटिफ़िक टेंपर" या वैज्ञानिक मिज़ाज पैदा करके दरअसल, "बहस विचारधारा पर नहीं, इस पर होनी चाहिए कि प्राथमिक कक्षाओं से ही छात्रों को आलोचनात्मक सवाल पूछने की आदत कैसे पड़े।" उनके मतानुसार ज्ञान की पवित्रता की रक्षा तभी हो सकती है जब शिक्षा की 'स्वायत्तता' को स्वीकार किया जाए और उसे किसी भी राजकीय विचारधारा से मुक्त रखा जाए।

इन क्रांतिकारी परिवर्तनों में जिन्हें 'अग्रिम दस्ता' होना चाहिए, उनके बारे में यह सच्ची और वेधक टिप्पणी गिरेबान में झांकने को मजबूर कर देगी : "हमने आज जैसा नासमझ, बेपढ़ा-लिखा 'लेफ्ट' (कम्युनिस्ट समझिए— क्योंकि कम्युनिस्टों के अलावा आज कहीं और कोई 'लेफ्ट' नहीं बचा) नहीं देखा था। 'भूमंडलीकरण' और इसका कोई बड़ा 'डायक्यूमेंट' नहीं है। हिंदी-प्रदेश के विकास के लिए, इस देश के लिए कोई राजनीतिक दल चिंतित नहीं है। मुक्तिबोध ने 'एक साहित्यिक की डायरी' में लिखा था कि किसी राजनीतिक दल के पास समाज-सुधार का कोई कार्यक्रम नहीं है।" इस बेबाक और बेलाग टिप्पणी पर गम्भीरता से आत्म-परीक्षण करने की ज़रूरत है।

इस पुस्तक की सबसे बड़ी उपलब्धि है **राष्ट्रीय सहारा** में लिखी उनकी छोटी-छोटी टिप्पणियां और उनका 'कॉलम'। इसमें नामवरजी की भाषा के अलग ही तेवर देखने को मिलते हैं। शत्रु को तिलमिला देने वाले प्रहार। बेबाक, बेलाग और बेलौस बातकही का अन्दाज़। कहीं-कहीं बेहद महीन व्यंग्य के मारक नशतर और सर्वोपरि लोकभाषा और लोकजीवन के मार्मिक प्रसंग। खासकर हिरनी का गीत! कई बार तो वे **हरिशंकर परसाई** से होड़ करते नज़र आते हैं।

ज माने से दो दो हथ/ नामवर सिंह/ राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002/ मूल्य : ₹ 250

बी-13, दैनिक जनयुग अपार्टमेंट, वसुंधरा एनक्लेव, दिल्ली-110096, मो. 09891250940

शाश्वत और सामयिक के बरअक्स समकालीन विमर्श

रेवतीरमण

‘कृ

ति विकृति संस्कृति’ डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र की एक ऐसी आलोचना—पुस्तक है, जो उसके असामयिक निधन के उपरान्त प्रकाशित हुई है। एक

लंबी ‘प्रस्तावना’ के साथ, तीन खंडों में संयोजित इसमें छोटे-बड़े अठारह लेख संकलित हैं। ‘अपने लिखे हुए को पुस्तकाकार प्रकाशित करने में संकोच’ के बावजूद, विनोद तिवारी के अनुसार, इस पुस्तक की अधिकांश सामग्री स्वयं सत्यप्रकाश जी ने ही सूचीबद्ध की है। ‘कृति विकृति संस्कृति’ का प्रयोग संभवतः हेगेल के पक्ष (Thesis), प्रतिपक्ष (Anti thesis) और संश्लेष (Synthesis) के अनुरूप हुआ है तो इस प्रसंग में नामवर जी कि किताब ‘वाद विवाद संवाद’ की स्मृति अभी धूमिल नहीं हुई है। विजय देव नारायण साही और नामवर सिंह के बाद के आलोचकों में सत्यप्रकाशजी खासतौर से अपनी अनूठी वाग्मिता के लिए जाने गए। उनकी छवि मुख्य रूप से एक बोलते हुए, वाचिक परंपरा के आलोचक की छवि थी। गंभीर विमर्श के लिए उनकी ख्याति थी, जिसके केंद्र में साहित्य होता था। पर वे साहित्येतर सांप्रतिक ज्ञानानुशासनों में भी संशयरहित आवाजाही कर सकते थे।

यह किताब सत्यप्रकाशजी के निधन से उत्पन्न अवसाद को घना कर देती है। वह एक बड़ी क्षमता के आलोचक थे और उनसे काफी उम्मीदें थीं। इसे विडम्बना कहें या हकीकत समकालीन समीक्षा आज भी मार्क्सवाद के समर्थन और विरोध के दो स्पष्ट शिविरों में ज्यादातर सतही उछलकूद के दृष्टांत प्रस्तुत करती हैं। रचनाकार किस संगठन में है, वह अज्ञेय का विरोधी है या नहीं, कहीं

निर्मल के अंदाजेबयों से प्रभावित तो नहीं है—लिखने से पहले समीक्षक पता कर लेते हैं। इस परिदृश्य में अनपेक्षित विखडनात्मक स्वर की तूती बोलती है। वह दलितवादी हो या स्त्री-वादी, समग्रता से संवाद में रुचि नहीं लेता। सत्यप्रकाश जी आलोचक के रूप में अपनी समझ, स्वाध्याय और व्यक्ति-विवेक से परिचालित थे। वे मार्क्सवादी नहीं थे, लेकिन अधिसंख्य विरोधियों की तरह मार्क्सवाद से अनुकूलित रचना-प्रवृत्तियों का बेवजह विरोध भी नहीं करते थे। एक जमाने में ‘महाबली का पतन’ लिखकर एक सतेज-साहसी युवा आलोचक के रूप में उन्होंने अपनी पहचान बनाई थी। लेकिन तब भी हम उन्हें किसी का अंध समर्थक या विरोधी नहीं कह सकते। वह मत्सरी नहीं थे, यह भी सही, वह भी सही वाले सतृणाभ्यवहारी भी नहीं। उनकी प्रवृत्ति एक तत्त्वाभिनवेशी

आलोचक की प्रवृत्ति थी। सत्यप्रकाश जी को अलंकार शास्त्र का गहरा ज्ञान था। पर समकालीन साहित्य-विमर्श में वे आधुनिक या कहे पाश्चात्य विभावन की बारीकियों का पता देते थे।

सत्यप्रकाशजी बड़ी चिंता के आलोचक थे। उनमें हवा की रुख के खिलाफ खड़े होने की क्षमता थी। हिंदी का समकालीन साहित्य विविधरूपात्मक होने पर भी उन्हें चकित-चमत्कृत नहीं कर पाता था, जब तक कि वह जातीय परंपरा से संवाद की स्थिति में नहो। साही और नामवर से उनके जुड़ने और अलग होने का यही रहस्य था। तथापि सत्यप्रकाश जी के लेखन को हम प्रयोग की प्रयोगशील विवेचन-परंपरा से अलग नहीं मानते। यह वह परंपरा है, जो रचनाकार और आलोचक को एक-दूसरे के क्षेत्र में दखल देने की छूट देती है। हिंदी आलोचना की जिस संस्कृति को वाराणसी ने विकसित किया, उसका गद्य शुक्लजी से लेकर नामवरजी तक कमोबेश खड़ी हिंदी का हंसमुख गद्य बना रहा। प्रयोग शुरू से ही प्रति-आलोचना की संस्कृति को पल्लवित-पुष्पित करने में लगा रहा। रचना पर आलोचना के आक्रमण से उत्पन्न आपात स्थिति की सुरक्षात्मक रणनीति के रूप में। इसमें साही किसी हद तक काशी और प्रयाग को मिला देते थे। पर वह अंत तक रचनाकार भी बने रहे। सत्यप्रकाशजी इस दृष्टि से अपवाद थे। हालांकि इस किताब में संकलित उनके कई लेखों में स्थानित चिंताएं जगह बनाती हैं। एक कवि-कथाकार की संवेदना कास जनपदीय आधार भले अर्धसघन माना जाए, पर एक आलोचक के जनपदीय आग्रह अक्सर भ्रमोत्पादक ही होते हैं। वैसे, जहां की जलवायु में लेखक



बनता-बिगड़ता है, उसका ऋण-शोध तो उसे करना ही पड़ता है।

इस किताब में सत्यप्रकाशजी की चिंतन-मुद्रा अत्यधिक गंभीर है। इसका पहला खंड 'चिंतन' है, जिसमें सर्वाधिक दस लेख हैं। 'प्रस्तावना' का पहला ही वाक्य है,— 'समकालीनता शाश्वतता और सामयिकता से भिन्न प्रत्यय है।' वह शाश्वतता का निषेध नहीं है, जैसा कि आमतौर पर समझा जाता है। 'समदर्शी', 'समरूप' जैसे शब्द-प्रमाण से समकालीन अपने देश-काल को लेकर सीधे तौर पर संवेदनशील हो सकता है लेकिन श्रेष्ठ और कलात्मक का उसका आग्रह यथास्थिति पोषक ही हो, आवश्यक नहीं। प्रतिरोध अनिवार्य है तो भी आलोचना अंतर्वस्तु-निर्भर रहकर अपने दायित्व का निर्वाह नहीं कर सकती। प्रतिरोध-दर्शन को भी 'विकल्प का अवकाश' अपेक्षित है। सत्यप्रकाश जी के ही शब्दों में—'साहित्य अपनी प्रकृति से होने के साथ चाहिए' का भली विकल्प प्रस्तुत करता है।' इसलिए केवल प्रश्नाकुलता पर्याप्त नहीं। विचारधारा का आग्रह साहित्य में शिल्प के प्रति उदासीनता की वजह नहीं है। विचारधारा भी केवल मार्क्स, गांधी या हिंदुत्व की नहीं होती। विचारधारा औपनिवेशिक दासता की भी हो सकती है। सत्यप्रकाश जी सबसे खतरनाक इसे ही मानते हैं। दूसरों के कहे हुए को बिना परीक्षा के स्वीकार करके उसके अनुसार नीति-निर्धारित करना, व्यक्तियों, समूहों और राष्ट्रों के सर्वनाश कारण बना है।' 'किसी एक विचार या विमर्श को ले उड़ने की प्रवृत्ति बौद्धिकता-विरोधी है।' साथ ही एक विचारधारा के नाम पर अन्य मतों के प्रति असहिष्णुता भी रचनात्मक लोकतंत्र की बाधा बनती है। 'मानव लक्ष्य निर्विवाद होते हैं। उनकी प्राप्ति के तरीके में विवाद संभव है। किंतु यही एक मात्र रास्ता है या यही सबसे अच्छा है—इस प्रकार की स्थापना जड़ता की प्रतीक बन जाती है और चमत्कारी विचार-परंपरा में नवोन्मेष की संभावना समाप्त करके उसे महज एक कर्मकांड बना देती है।'

सत्यप्रकाशजी मार्क्सवादी विचारधारा से लगभग उसी शैली में संबद्ध या अलग दिखते हैं, जिस शैली में विजयदेव नारायण साही। लेकिन कुछ मामलों में उनका चिंतन भारतीय

बौद्धिकता के पक्ष में हैं। मसलन, उनका काल-चिंतन इस किताब में आरंभिक दो लेख—'काल की धारणा और काव्य सृजन की समस्या', और 'अनुभव की प्रकृति और रचना की समस्या' खासतौर से पठनीय हैं। काल की भारतीय प्रतीति में उसका निरवधि होना अर्थसघन है। 'वह क्षण से प्रारंभ होकर निरंतर फैलता हुआ महाकल्प में पर्यवसित होकर नित्य हो जाता है। कलियुग से कृतयुग की यह यात्रा नहीं है बल्कि आदि से अनंत की यात्रा है। निरवधि का तात्पर्य इसी अनंत चक्रीयता से है।' काल का संक्षिप्तम रूप 'क्षण' है जिसे परिभाषित करते हुए सत्यप्रकाश जी लिखते हैं,—'साधन में जिसे निर्विकल्प समाधि कहते हैं, रचना की दृष्टि से उसे ही क्षण कहा जाता है।' यह भी कि 'काल की सूक्ष्मतम प्रक्रिया को पहचानना ही संसार को पहचानना है।' 'वस्तुतः क्षण होने की प्रतीति नहीं है। वह लौकिक दृष्टि से न होने की सार्थकता है।' सच तो यह है कि सत्यप्रकाश जी काल-चिंतन के बहाने रचनाकार के आत्म-विसर्जन का तर्क देते हैं। वे क्षण-सृजन और आत्म-बलिदान का रिश्ता समझते हैं और निष्कर्ष निकालते हैं कि 'व्यक्ति कुछ पाता है तो कालयज्ञ में आत्माहुति से ही पाता है।'

भारतीय तंत्र-साधना से लेकर कांट और ब्रैडले तक के चिंतन का सार यही है कि 'क्षण को पहचानना काल के अणुधर्मी स्रोत को पहचानना है और काल को पहचानने बिना कालजयी होना संभव नहीं है।' सत्यप्रकाश जी की समझ है कि 'नितांत अहंकारहीन स्थिति में कलात्मक अनुभव का क्षण ही रचना का क्षण हो जाता है।' प्रसंगवश, उन्होंने कालातीत की कल्पना को 'शाश्वत समकालीन' कहा है और इसे स्पष्ट करने के लिए हिंदी के कवियों-लेखकों के उदाहरण भी रखे हैं। उनकी आकांक्षा की रचना अन्याय का विवेकाश्रित विरोध होती है। 'साहित्य और सत्ता' शीर्षक लेखक में सत्यप्रकाश जी लिखते हैं कि 'अंततः रचनाकार के पास भाषा का ही हथियार होता है और इस हथियार से कोई भी सत्ता घबड़ाती है।' 'अन्याय चाहे कहीं भी हो, किसी प्रकार का हो, उसका विरोध करना लेखक के रूप में व्यक्ति की नहीं स्वयं लेखन की प्रकृति है।' 'लेखक का



दायित्व व्यक्ति रूप में और है तथा लेखक के रूप में और—यह विचार पूंजीवादी आलोचकों का हो सकता है। सत्यप्रकाश जी ऐसे विचारकों से असहमति व्यक्त करते हैं। उनके मत में 'वास्तविक लेखन सामाजिक परिवर्तन के लिए ही हो सकता है।' ऐसा लेखन खतरा मोल लेने जैसा है। बिना खतरे के कुछ संभव नहीं। अपरिहार्य होने पर उपन्यास पैम्फलेट बन जाए, तो भी कोई हर्ज नहीं।

सत्यप्रकाशजी की दृष्टि में स्वतःस्फूर्तता भी एक सहज उद्देश्य विधान का अंग होती है। सोद्देश्य लेखन का विरोध करने वाले स्वतंत्रता और मुक्त व्यापार और आचरण पर बल देते हैं। जबकि क्लासकीय साहित्य में उपयोगिता और विचारधारा का मिलाजुला स्वरूप था। सोद्देश्यता अनावश्यक कलात्मकता से मुक्त रहकर भी प्रभावकारी और सर्जनात्मक है। स्पष्ट है कि सत्यप्रकाश जी सृजन को प्रकार्यात्मक और परिणामोन्मुख मानते हैं। 'साहित्य-बोध का तर्क' और मूल्य और सामाजिक संतुलन' जैसे आलेखों में उनकी चिंता समाजोन्मुखी है। 'मूल्य चाहे जिस प्रकार का हो वह अंततः सामाजिक स्वीकृति पर ही निर्भर है।'

इस किताब में कई तो प्रबंधात्मक विमर्श हैं। 'हिंदी नाटक : स्थिति और संभावना', 'सामयिक नहीं समकालीन' और विजयदेव नारायण साही' इस किताब के लंबे प्रबंधात्मक आलेख हैं। इनमें सत्यप्रकाश जी

कहानीकार की समाज विवेचना

माधव हाड़ा

के गंभीर चिंतन और अध्यापक रूप के दर्शन होते हैं। नाटक पर इतना सुचिंतित लेखन इधर के वर्षों में नहीं हुआ है। भुवनेश्वर, लक्ष्मीनारायण लाल, विपिन कुमार अग्रवाल, मोहन राकेश, सुरेद्र वर्मा के साथ भीष्म साहनी और दूधनाथ सिंह आदि के नाटकों पर भी सत्यप्रकाश जी गहरी क्षमता से विचार करते हैं। उन्होंने प्रसंगवश, नुककड़ नाटकों का भी मूल्यांकन किया है किंतु पिछले दौर में उनके ठहराव और गतिहीनता लक्षित की है। 'सामयिक नहीं समकालीन' वस्तुतः काव्यालोचन है। नब्बे के दशक की हिंदी कविता पर सत्यप्रकाश जी ने खुले मन से विचार किया है। इसमें कथित मुख्यधारा पर विमर्श हुआ है, पर छूटे हुए कई कवियों को शामिल करने की कोशिश हुई है। इसमें गीत-गजल वाले स्वीकार्य नहीं हुए हैं।

इस किताब में महादेवी, मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, अज्ञेय और मैनेजर पांडेय के लेखन पर भी गंभीर विमर्श है। पर जितनी आत्मीयता के विजयदेवनारायण साही को समझने की चेष्टा हुई है, उतनी आत्मीयता से अन्य को नहीं। मार्क्सवादी चिंतन में 'वस्तु' और 'रूप' जैसा आलेख वही लिख सकता है, जिसे मार्क्सवादी सौंदर्य-चिंतन की सुदीर्घ और समृद्ध परंपरा की गहरी समझ हो। इसमें सत्यप्रकाश जी की अनुसंधानवृत्ति सजग है। विरोध और समर्थन से दूर यानी पूर्वग्रहमुक्त होकर विचारधारात्मक लेखन से संवाद की कला इसमें सीखने-योग्य है। 'मार्क्सवादी समीक्षा और उसकी कम्युनिस्ट परिणति' में साही अपने तरीके से कम्युनिस्ट आलोचकों को साहित्य का संपूर्ण इतिहास लिखने की चुनौती देते हैं, सत्यप्रकाश जी वैसा कुछ नहीं करते। बल्कि, 'वस्तु' और 'रूप' के संदर्भ में मार्क्सवादी चिंतन का सार-संग्रह करते हुए, रचना के स्तर से विचारधारा के प्रति अपने लगाव का संकेत भी देते हैं।

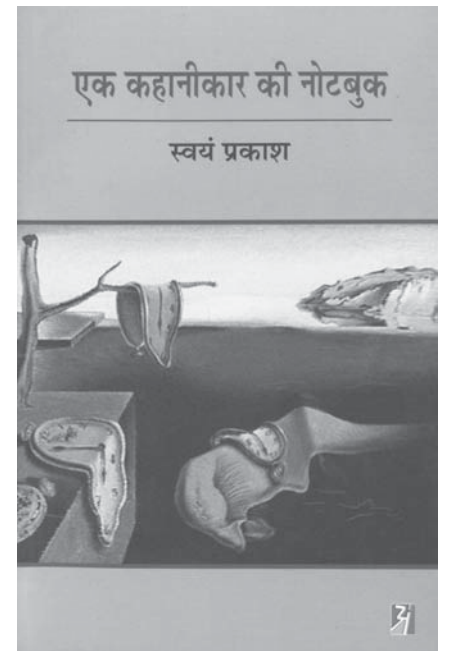
कृति विकृति संस्कृति/सत्यप्रकाश मिश्र/लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-2112001/ मूल्य : ₹ 375

22, रीडर्स क्वार्टर, युनिवर्सिटी कैम्पस, मुज फ फ रू-842001 (बिहार) मो 09334730479

र वयं प्रकाश की समय-समय पर लिखी गई आलेख-टिप्पणियों को ही उनकी इस नई किताब *एक कहानीकार की नोट बुक* में संकलित किया गया है। स्वयं प्रकाश की सोच का दायरा बहुत विस्तृत है। संस्कृति पर विचार करते हुए वे सरकारी हलकों में इसको केवल रूपंकर कलाओं का पर्याय और पर्यटन का हिस्सा मानकर इसमें से विचार को बाहर कर देने पर चिंतित हैं। उनके अनुसार रूपंकर कलाओं में विचार और मतभेद की गुंजाइश कम है, इसलिए इनका विकास अवरुद्ध है और ये अभी तक मध्यकाल में ही रुकी हुई हैं। कुछ लोगों द्वारा योजनाबद्ध ढंग से संस्कृति में असहमति को असहिष्णुता में बदलने की कोशिशों का विरोध करते हुए वे कहते हैं कि असहमति भी विचार का एक आयाम है। उनके शब्दों में "असहमति की अनुपस्थिति रेजीमेंटेशन, दमन और तानाशाही की सूचक होती है।" (पृ. 10) भारत को विश्व का सबसे बड़ा बाजार मानकर खुश होने वालों से स्वयं प्रकाश असहमत हैं। वे नियंत्रण मुक्त और स्वेच्छाचारी बाजार की हिमायत करने वालों से अपनी धारणा के औचित्य पर पुनर्विचार का आग्रह करते हैं। उनके अनुसार मुनाफे के लिए जानवर बन जाना बाजारवाद है और इसकी पुष्टि के लिए वे दैनंदिन जीवन के उदाहरण देते हैं। वे कहते हैं कि बाजार के पशुवत आचरण के कारण ही साहित्य में इसका विरोध तेजी से बढ़ रहा है (पृ. 13) स्वयं प्रकाश इस किताब में हिंदू हित बात करनेवालों की भी अलग ढंग से खबर लेते हैं। वे यह नहीं कहते कि वे क्या करते हैं। वे यह कहते हैं कि यह-यह करना उनका दायित्व है, लेकिन वे इससे भाग कर वो सब करते हैं, जो उन्हें नहीं करना चाहिए। वे हिंदुओं के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन

से सीधे जुड़े मुद्दों को पाठकों के सामने सिलसिलेवार रखते जाते हैं, जिनकी हिंदू हित की बात करने वालों ने अब तक उपेक्षा की है। अंत में वे धर्म, संस्कृति और परंपरा की बार-बार दुहाई देने वाली और क्रांतिकारी सोच रखने वाली ताकतों में किसी एक को चुनने विकल्प पाठकों पर छोड़ देते हैं। (पृ. 17) नास्तिक जीवन शैली पर विचार करते हुए वे कहते हैं कि आस्तिक ईश्वर को सिर्फ मानता है, जबकि नास्तिक ईश्वर को मानता भी है और जानता भी है। ईश्वर मनुष्य का उससे अधिक बुद्धिमान और शक्तिशाली निर्माण उनके अनुसार वैसे ही है जैसे गायों का कल्पित ईश्वर किसी बलशाली सांड जैसा होगा। (पृ. 19)

आर.डी.बर्मन का संगीत रीमिक्स उनके अनुसार युवी पीढ़ी को अच्छा लगता है, क्योंकि यह अपने समय में भी सामंती परिवेश के विद्रोह और लोकतंत्र की अभिव्यक्ति था। आर.डी.बर्मन के रीमिक्स धुनों की लोकप्रियता



के बारे में उनकी धारणा है कि यह अतीत की मिठास के संरक्षण के साथ आधुनिकता की खिड़कियाँ खोलने जैसा है। (पृ. 35) स्त्री और दलित विमर्श के बारे में स्वयं प्रकाश का नजरिया एकदम खांटी मार्क्सवादी है। उन्हें जेंडर युद्ध या पितृसत्ता का विरोध सत्ता के विमर्श का ही दूसरा रूप लगता है। इसकी पुष्टि में वे कहते हैं कि सत्तासीन होते ही स्त्री ठीक उसी तरह व्यवहार करने लगती है जिस तरह से सत्तासीन पुरुष करता है। दलित विमर्श के संबंध में भी स्वयं प्रकाश इसी तरह सोचते हैं। कुछ दलित समर्थकों का यह तर्क कि दलित ही दलित की कथा लिख सकता है, उन्हें सिरे से गलत लगता है। वे इसी तर्क को आगे तक खींचते हुए लिखते हैं कि “मैं मुर्गी की कहानी लिखना चाहूंगा तो आप कहेंगे मुर्गी की कहानी लिखी है तो पहले अंडा देकर दिखाओ।” वे इन दोनों विमर्शों के संबंध में इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि “जेंडर, जाति, स्थानीयता या संख्या की चेतना का विस्तार वर्ग चेतना को कहीं-कहीं कुंठित करता है।” (पृ. 115) इस तरह की सजगता उन्हें हिंदी की जनवादी-प्रगतीशील कहानी को भीतर से तोड़ने का षड्यंत्र लगती है। वे लिखते हैं कि “अब इसे भीतर से तोड़ने की कोशिश की जा रही है। स्त्रियों/तुम इनसे विलग हो जाओ। दलितों/तुम इनसे अलग हो जाओ। इनसे कुड़ी कर लो। देखो हमारी मुट्टी में क्या है? आओ, आओ, आओ! शाबाश!” (पृ. 105)

पुस्तक में स्वयंप्रकाश ने अपने समय के साहित्यिक सरोकारों और माहौल पर भी विचार किया है। खास तौर पर अपने अनुशासन कहानी के संबंध में इस पुस्तक में उनके एकाधिक लेख और टिप्पणियाँ हैं। वे यह स्वीकार करते हैं कि लंबे समय तक केवल संघर्ष को सरोकार बना लेने से हिंदी कहानी में प्रेम की उपेक्षा हुई है। *कथादेश* और *लोकायत* पत्रिकाओं में प्रेमकथा विशेषांकों में प्रकाशित कहानियों में वे पहले क्या नहीं है और क्या है का ब्यौरा पेश करते हैं और फिर कहानीकारों के ‘डूब कर’ प्रेम कथाएँ न लिख पाने के कारणों की तह में जाते हैं। इसके कारण गिनाते हुए वे कहते हैं कि एक तो हिंदी भाषी समाज भयानक रूप से दमित-कुंठित और वर्जनाग्रस्त है दूसरे, यह असहिष्णु और हिंसा प्रेमी है। इस कारण हिंदी का कहानीकार का नजरिया इस संबंध में दो टूक नहीं है। वे ज्ञान चतुर्वेदी के

शब्दों में कहते हैं कि “सब दिखाओ पर तरीके से। काम कायदे का हो, चाहे फालतू हो। कहानी से लुच्चापन न झांके। लुच्चापन बना रहे, पर झांके न!...पाठक मुंह फाड़कर जुमहाइयाँ लेता रहे, वह उत्तेजित न हो जाए। हिंदी साहित्य के पाठक की लंगोटी की रक्षा करना हमारा कर्तव्य है।” (पृ. 55) आज की हिंदी कहानी को स्वयं प्रकाश सोवियत संघ और पूर्वी यूरोपीय सत्ताओं के पतन, संचार क्रांति और वैश्वीकरण जैसी परिघटनाओं से प्रभावित मानते हैं। इस माहौल में उनके अनुसार दो तरह की कथा पीढ़ियाँ सामने आई हैं। एब बाजारवादी पीढ़ी है, जिसको व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाओं और प्रकाशकों ने खूब हवा दी है, जबकि दूसरी पीढ़ी प्रगतिशील-जनवादी कहानीकारों की है, जो नवसाम्राज्यवाद के प्रतिरोध में खड़ी है। (पृ. 88)

मनुष्य और कहानीकार के रूप में स्वयंप्रकाश के जड़ें अपनी जमीन में हैं। उनकी सोच-समझ का खाद-पानी इसी जमीन से आता है। वे अपनी धारणाओं की पुष्टि के लिए तर्क अपने पास के दैनंदिन जीवन से ही जुटाते हैं। इस कारण उनका पाठक उनके तर्कों से अनायास सहमत हो जाता है। सोच-विचार की उनकी पद्धति आडम्बरहीन है—वे एक के बाद एक सवाल रखते चले जाते हैं और फिर उनके सभी संभावित उत्तर देते हुए युक्तिसंगत निष्कर्ष पर पहुंचते हैं। इस पद्धति में वे विरोधी के तर्क को भी पूरा विस्तार और असहमियत देते हैं। कभी कभी वे तर्क को खींचकर बहुत दूर तक ले जाते हैं। उनका तर्क का यह खेल देखना हो, तो दलित विमर्श पर लिखी गई उनकी टिप्पणी ‘बात निकलेगी...’ पढ़ना चाहिए। निंदा और सराहना में भी वे कभी-कभी बहुत दूर तक चले जाते हैं। उनकी टिप्पणी ‘प्रेमचंद की परंपरा का सवाल’ इसका अच्छा उदाहरण है। अलग-अलग समय और जरूरतों के लिए लिखी गई इन आलेख- टिप्पणियों के सोच-विचार में कुछ अंतर्विरोध रह गए हैं। एक जगह वे साहित्य और कलाओं के अधिरचना होने का हवाला देते हैं (पृ. 86) और इनमें हो रहे बदलावों को सहज और स्वाभाविक ठहराते हैं, लेकिन एक दूसरी टिप्पणी में कुछ साहित्यिक विधाओं के लोप पर उनका क्षोभ समझ में नहीं आता। (पृ. 57) प्रौद्योगिकी और समाजार्थिक बदलावों से साहित्यिक विधाओं का लोप, अनुकूलन और रूपांतरण सहज-स्वाभाविक है, लेकिन इस टिप्पणी में उनका मिटते जाना

उनको व्यथित और चिंतित करता है। इसी तरह हिंदी भाषा में हो रहे बदलावों की सहजता को लेकर भी वे दुविधाग्रस्त लगते हैं। उनके लिए यह भाषा को भ्रष्ट करना भी है और उसे संप्रेषणीय और अनौपचारिक बनाना भी है। (पृ. 69) टिप्पणी ‘आखिर हिंदी नाटक कहाँ चला गया’ में वे हिंदी में अच्छे नाटक नहीं है की जगह हिंदी में अच्छे नाटक क्यों नहीं है पर विचार करते हैं, लेकिन इसके कारणों की गहराई और विस्तार में जाने के बजाय वे इसका ठिकरा राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के फोड़ देते हैं, जो बहुत युक्तिसंगत नहीं लगता। (पृ. 45) हिंदी में सोच-विचार ठोस-ठस भाषा करने का रिवाज है, लेकिन स्वयं प्रकाश के इन आलेख-टिप्पणियों की भाषा ठोस-ठस नहीं है। यह दैनंदिन जीवन के खट्टे-मीठे अनुभवों की आंच में तपकर बनी बोलचाल की व्यंजना और तनाव से भरी-पूरी असरदार भाषा है। दरअसल दैनंदिन जीवन की भाषा के मुहावरे और व्यंजना के इस्तेमाल का जो महारत स्वयं प्रकाश को हासिल है वो हिंदी में अन्यत्र दुर्लभ है। *सरयूपारी या और किसी वेरायटी के ब्राह्मण के घर पैदा हो जाते, इनमें से अधिकांश श्री गुलशन नंदा की मौसी के लड़के साबित हो जाएंगे, जिस देश के राष्ट्रपति को नौकरानी के घाघरे पर वीर्यपात करने में शर्म नहीं आए नहीं आए और उसे लोटा लेकर जंगल जाने पर टट्टी नहीं उतरती थी* जैसे सीधे दैनंदिन जीवन से उठाए हुए बोलचाल की भाषा के तत्काल असर करने वाले प्रयोग स्वयं प्रकाश के यहीं मिलेंगे।

यदि विचार है तो अक्सर उसका विषय गुरु और गंभीर होगा, उसकी भाषा जटिल और कठिन होगी और यह ऊबाऊ और नीरस होगा। यह किताब ऐसी तमाम धारणाओं का प्रत्याख्यान करती है। इसमें गंभीरता का आडंबर नहीं है, यह सरल और बोलचाल की भाषा में है और खास बात यह है कि यह पढ़ने के दौरान मनहूसियत के बजाय आनंद और उत्साह का संचार करती है।

एक कहानीकार की नोटबुक/स्वयं प्रकाश/अंतिका प्रकाशन, सी-56/यूजीएफ-IV, शालीमार गार्डन, एक्सटेंशन-II, गाजियाबाद-201005 (उ.प्र.), मूल्य : ₹ 120

कार्यकारी महिला छात्रावास के पास, पी.डब्ल्यू.डी. कॉलोनी, सरोही-307001 (राजस्थान)। मो. 09414325302

नागेश्वर लाल को याद करते हुए

अजय वर्मा

जी

वन के प्रति गहरी आसक्ति और रागात्मकता लेखक की पहली शर्त होती है। अनासक्त व्यक्ति योगी हो सकता है, लेखक नहीं। यही आसक्ति उसे जीवन और जगत के बारे में सोचने के लिए उन्मुक्त दृष्टि प्रदान करती है। मगर यह उन्मुक्तता जब हृद को पार कर जाती है तब लेखक अपने लेखकीय दायित्व बोध के प्रति उदासीन हो जाता है। जीवन और समाज के प्रति भी वह इतना दायित्वहीन हो जाता है कि अंततः वह भोगवादी बन जाता है। डॉ. नागेश्वर लाल इसी श्रेणी के उन्मुक्त इंसान थे, जीवन और चिंतन, परिवार और समाज सभी स्तरों पर वे इतने ही उन्मुक्त थे। इसके बावजूद उन्हें व्यक्तिवादी कहना संगत नहीं होगा क्योंकि वे सबके सुख-दुःख में साझीदार होते थे। यह उनका विरोधाभास था।

ये पंक्तियाँ लिखते हुए मुझे गहरे आत्मसंघर्ष से गुजरना पड़ रहा है कि कहीं मैं उनके व्यक्तित्व को विरूपित तो नहीं कर रहा। अगर अनजाने में भी ऐसा हुआ तो यह मेरे लिए शर्मनाक ही होगा क्योंकि मैंने अपने पूरे जीवन में उनके जैसा संवेदनशील, दूसरों की सहायता के लिए अपने निजी स्वार्थों की बार-बार तिलांजलि देने वाला, बल्कि सहायता करने के दौरान उचित-अनुचित तक का विचार त्याग देने वाला इंसान बहुत कम देखा है। मैं स्वयं उनसे उपकृत ही हुआ, उनको उपकृत करने का कभी मुझे अवसर नहीं मिला, यों कहें कि उन्होंने अवसर की कभी गुंजाइश नहीं दी। मगर यही उदारता उनके लिए नुकसानदेह बनी। ठोस जीवन के स्तर पर भी और लेखन के स्तर पर भी। उनके इर्द-गिर्द हमेशा बहुत

सारे लोग रहते थे जिनमें चापलूसों, भावनात्मक शोषकों की संख्या अधिक थी और ऐसे लोग वैचारिक रूप से दरिद्र एवं बौद्धिक रूप से कूटमगज थे। दीमक की तरह ये नागेश्वर लाल की प्रतिभा और सृजनात्मकता को चाट गए। यही कारण है कि जिस व्यक्ति के भाषण से प्रेरित होकर नामवर सिंह ने 'कविता के नए प्रतिमान' जैसी पुस्तक लिखी, वह व्यक्ति खुद एक भी ऐसा गंभीर काम पूरे जीवन नहीं कर सका जिसके लिए उसे बतौर लेखक याद किया जा सके। नामवर जी की पुस्तक के बारे में भी एक बात जरूरी लगती है कि इसकी प्रेरणा भले ही उन्हें नागेश्वर लाल से मिली हो, पर 'कविता के नए प्रतिमान' के केंद्र में मुक्तिबोध हैं और नागेश्वर लाल मुक्तिबोध को एकदम पसंद नहीं करते थे। छोटी-छोटी टिप्पणियों, वक्तव्यों के अलावा नागेश्वर लाल साहित्य की आलोचना को कुछ भी नहीं दे पाए। जबकि इन्हीं टिप्पणियों, वक्तव्यों में ऐसी विचार-छवियाँ मौजूद थीं जिन पर पूरी पुस्तक लिखी जा सकती थी और



तब हिंदी आलोचना की एक अलग तस्वीर होती क्योंकि नागेश्वर लाल की आलोचना दृष्टि न तो रामविलास शर्मा के करीब थे, न नामवर सिंह के। वे मार्क्सवादी नहीं थे, सिर्फ इतना ही नहीं था, वे चिढ़ की हद तक मार्क्सवाद-विरोधी थे। इसके बावजूद उन्हें प्रत्यक्ष तौर पर दक्षिणपंथी नहीं कहा जा सकता। दक्षिणपंथ के लिए उनके वैचारिक दृष्टिकोण या लेखन-भाषण में प्रत्यक्षतः उतनी भी गुंजाइश नहीं थी जितनी मार्क्सवादी रामविलास शर्मा स्मृति और परंपरा के प्रति अत्यधिक मोह के कारण अपने लेखन में छोड़ गए, अनजाने ही सही। उन्हें यथास्थितिवादी भी नहीं कहा जा सकता, पर उनका भयंकर अंतर्विरोध यह था कि वे व्यक्ति के उन्मुक्त जीवन को महत्व देते थे इसीलिए उन्हें निराला, मुक्तिबोध, प्रेमचंद जैसे परिवर्तनकामी कवि-लेखक कभी पसंद नहीं आए बल्कि अज्ञेय, भारती और विजयदेवनारायण साही को वे बेहद पसंद करते थे। ये तीनों गैर मार्क्सवादी थे पर महज इसी वजह से इन्हें दक्षिणपंथी नहीं कहा जा सकता, किंतु यूरोप के दक्षिणपंथी आंदोलन 'कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम' के ये भारत में कर्ता-धर्ता बने। ये तीनों कवि नागेश्वर लाल को बहुत प्रिय थे। ये तीनों व्यक्ति स्वातंत्र्य के समर्थक थे और वैश्विक स्तर पर वाम और दक्षिण के भेद का यही आधार था—वर्ग के विरोध में व्यक्ति की प्रतिष्ठा। इस दृष्टिकोण से नागेश्वर लाल को दक्षिणपंथी कहा जा सकता है, मगर यहां एक बात का ध्यान रखना जरूरी है कि भारत में वाम और दक्षिण के बीच भेद के आधार के रूप में वर्ग की अवधारणा पिछले दो दशकों में कमजोर पड़ी है और सांप्रदायिकता इन दो धाराओं की विभाजक रेखा बन गई है। नागेश्वरलाल सांप्रदायिकता,

धार्मिक अंधवाद के घोर विरोधी थे, इसलिए उन्हें दक्षिणपंथी नहीं कहा जा सकता। निश्चय ही यह अंतर्विरोध था मगर जितना उनका खुद का अंतर्विरोध था उससे ज्यादा युग का। उनका दोष यह रहा कि एक आलोचक के नाते उन्हें इस अंतर्विरोध से वैचारिक स्तर पर टकराना चाहिए था मगर वे स्वयं इससे ग्रस्त थे। एक ओर साम्राज्यवादी पूंजी, नई बाजार व्यवस्था से लेकर यूरोप के नस्लभेदी शैचरवादियों और नए अमेरिकी साम्राज्यवाद के प्रति भी उनके मन में विशेष विरोध का भाव नहीं था।

पर इन सबके बावजूद नागेश्वर लाल खुले स्वभाव के थे। अपनी बात वे जितने जोरदार ढंग से कहते थे, उतनी ही रुचि से दूसरों की बात भी सुनते थे। वे बहस पसंद थे और दूसरे की राय से असहमत होते हुए भी उसके तर्कों में अगर वजन हुआ तो उसकी तारीफ भी करते थे। उनके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता थी उनकी उन्मुक्त हँसी और शाश्वत सहजता। उनका व्यक्तिगत जीवन बहुत तनावपूर्ण था। अनेक गुत्थियाँ, जटिलताएँ उनके परिवार में थीं और यह कहना कठिन है कि इनके लिए वे खुद जिम्मेदार नहीं थे। दरअसल वे जीवन के साथ संगति नहीं बना पाए। एक परंपरागत अर्द्ध सामंती, मध्य-वर्गीय परिवार में रहकर, उसकी परंपरागत विशेषताओं को बनाए रखकर वे स्वयं बीटनिक पीढ़ी के लोगों की तरह जीना चाहते थे। यह उनके परिवार में कलह, उनके स्वयं के तनावों का मुख्य कारण था। मगर इन सबके बावजूद सहज होने में उन्हें बिल्कुल देर नहीं लगती थी। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन बातों का उनके लेखन-कर्म पर असर नहीं पड़ा। न लिख पाने के कई कारणों में यह सबसे बड़ा कारण था और इसके लिए परिस्थितियाँ खुद उन्होंने बनाई थीं।

नागेश्वर लाल मूलतः कविता के आलोचक थे। आमतौर पर यह समझा जाता है कि वे कविता में आनंद की तलाश करते थे। यह सत्य है कि कविता से उनकी पहली मांग यही होती थी कि उससे आनंद मिले और इसमें कुछ गलत नहीं है क्योंकि इसके बिना कविता एक सपाट कथन भर रह जाती है। इसलिए उनकी इस अपेक्षा का अर्थ यह नहीं है कि वे कविता को जीवन से अलग, किसी

अमूर्त वस्तु के रूप में देखना चाहते थे। उन्होंने एक पुस्तक लिखी थी 'निबंध कोष', उसमें उन्होंने कहा है—

“यह युग-युग से माना जाता रहा है और इसकी सत्यता झट से स्वीकार की जाती रही है कि कविता का संबंध मस्तिष्क या बुद्धि से न होकर किसी हृदय से है। इन दिनों वैज्ञानिक विकास के कारण बुद्धि बहुत आगे बढ़ गई है और दिनकर के अनुसार हृदय का देश पीछे रह गया है। स्पष्ट है, अतिशय बौद्धिकता कविता के लिए खतरनाक है। विज्ञान थोड़ा रूके नहीं तो कविता मरी। इस संबंध में यह विचित्रता अनुभव करने योग्य है कि इस दृष्टिकोण से कविता के लिए बुद्धि या कि भाव के लिए ज्ञान खतरनाक बतलाया जा रहा है। क्या यह मानने योग्य है कि कविता ज्ञान-शून्यता में पैदा होती है या यह कि ज्ञान के उत्कर्ष से स्वमेव भाव का अपकर्ष होता है? यह कहना चाहिए कि कविता के उत्कर्ष के लिए ज्ञान-शून्यता आवश्यक है तो फिर कविता का मर जाना ही मनुष्यता के लिए मंगलकारी है।”

जाहिर है कि नागेश्वर लाल कविता को जीवन से अलग नहीं देखते थे, यह दीगर है कि जीवन को देखने का उनका नजरिया भिन्न था। इसी प्रकार आलोचना के संबंध में भी उनका स्पष्ट मत था कि उत्कृष्ट साहित्यिक कृतियों से ही उत्कृष्ट आलोचना का विकास होता है। जिन मानदंडों के आधार पर आलोचना होती है वे कृतियों के अध्ययन से ही निर्गत होते हैं। अतः रचनात्मक विचार से साहित्यिक परंपरा के अकिंचन होने पर आलोचना भी समृद्ध नहीं हो पाती।

अफसोस की बात है कि सैद्धांतिक तौर पर आलोचना के बारे में नागेश्वर लाल जो विचार प्रकट करते हैं, प्रयोग के समय खुद उन्होंने इसका ध्यान नहीं रखा। व्यक्तिगत संपर्कों, व्यक्तित्व या किसी अन्य बात से प्रभावित होकर उन्होंने ऐसी रचनाओं पर आलोचनाएँ लिखीं जिन्हें सामान्य तौर पर पठनीय भी नहीं, बल्कि निकृष्ट कहा जा सकता है। खेद की बात यह है कि उन्होंने सब समझते हुए लिखा, आलोचकीय दायित्व का दबाव जहाँ बहुत पड़ा वहाँ उन्होंने संकेत भी किया, पर दबे स्वर में। उनकी इस प्रकार की रचनाएँ उनके आलोचकीय व्यक्तित्व और

प्रतिभा के परे जाती हैं। जो आलोचनाएँ या वक्तव्य उन्होंने बिना किसी दबाव या प्रभाव के दिए उनमें निश्चय ही स्वातंत्र्योत्तर आलोचना के मानदंड की संभावनाएँ नजर आती हैं, पर उन्होंने इन संभावनाओं पर काम नहीं किया। मसलन उन्होंने आलोचना की सबसे अहम् समस्या रस-प्रकरण पर विचार करते हुए कहा कि विभाव, अनुभाव और संचारी के संयुक्त होने पर रस की निष्पत्ति होती है, यह आप्तवाक्य है। उसकी अनेक धारणाएँ हैं और उनमें वैभिन्न्य है पर मूल रूप में सर्वमान्य है। उनके अनुसार नाटकों और प्रबंधों को छोड़कर इसकी भरपूर सार्थकता का कोई और क्षेत्र पहले भी नहीं था। संभवतः इसी कारण ध्वनि-सिद्धांत को कविता के संदर्भ में विशेष लोकप्रियता प्राप्त नहीं हुई। उन्होंने यह भी कहा कि कविता का विश्लेषण करते समय रस-सिद्धांत के अनिवार्य उल्लेख की परिपाटी कभी नहीं थी।

यह सत्य है कि छायावाद के बाद कविता में 'रस' पर चर्चा कम होती गई, पर नागार्जुन की कविता में मूर्तिमत्ता को देखकर (अकाल और उसके बाद) नामवर जी ने उसमें साधारणीकरण की जो बात कही है उस पर नागेश्वर लाल ने ध्यान नहीं दिया, इसका कारण था नागार्जुन के प्रति नकार भाव। मगर ध्वनि को रस के स्थान पर प्रतिष्ठा दिलाने का काम उन्होंने भी नहीं किया। नागेश्वर लाल बड़े प्रतिभाशाली थे, इसलिए उनको याद करते हुए उनके अंतर्विरोधों को जानना आवश्यक है ताकि उनसे कुछ सीखा जा सके।

नागेश्वर लाल का जन्म बिहार के तत्कालीन शाहाबाद जिले के ब्रह्मपुर प्रखण्ड के अंतर्गत बगेन, नामक गांव में 9 मार्च 1930 में हुआ था। यह संप्रति बक्सर जिले का हिस्सा है। ये एक सम्पन्न कायस्थ परिवार से संबद्ध थे। इनके पिता यदुनंदन लाल खेती-बाड़ी का काम देखते थे और ताऊ रघुनंदन लाल डुमरांव महाराज के पटवारी थे। उनकी कोई संतान नहीं थी। इसलिए नागेश्वर लाल सहित अन्य भाई-बहनों का लालन-पालन एवं पढ़ाई-लिखाई उन्हीं के जिम्मे थी। इनके एक भाई और थे हरेकृष्ण लाल तथा दो बहनें थीं जिनमें एक विक्षिप्त थी। वे आजीवन नागेश्वर लाल के साथ ही रहीं और हजारीबाग में ही उनका देहावसान हुआ। इनकी प्रारंभिक

शिक्षा गांव के ही विद्यालय में हुई और मैट्रिक इन्होंने जिला स्कूल आरा से किया। तत्पश्चात स्नातक एवं स्नातकोत्तर की पढ़ाई पटना विश्वविद्यालय से की। एम.ए. (हिंदी) पटना विश्वविद्यालय प्रथम श्रेणी में पास की। उस जमाने में पटना विश्वविद्यालय का हिन्दी विभाग प्रख्यात लेखकों और विद्वानों से भरा हुआ था जिनमें आचार्य नलिन विलोचन शर्मा एवं आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, केसरी कुमार जैसे लोग थे। ये लोग नागेश्वर लाल के शिक्षक रह चुके थे।

इन्होंने अध्यापन की शुरुआत हरप्रसाद जैन कॉलेज, आरा से की, पर थोड़े ही दिनों बाद लोक सेवा आयोग की अनुशंसा पर इनकी नियुक्ति रांची कॉलेज, रांची में व्याख्याता के पद पर हो गई। 1984 में उन्हें हजारीबाग के स्नातकोत्तर अध्ययन केन्द्र में अध्यक्ष बनाकर भेजा गया। वहीं से 1992 में उन्होंने अवकाश ग्रहण किया। सेवानिवृत्ति के चौदह साल बाद 8 फरवरी 2006 को लम्बी बीमारी के बाद उनका देहांत हुआ। मृत्यु के कुछ पूर्व इन्हें विश्व हिंदी सम्मेलन में सूरीनाम जाने का अवसर भी मिला।

आलोचना के क्षेत्र में नागेश्वर लाल का पर्दापण 1960 के पहले ही हो चुका था। धर्मयुग, नयी कविता, माध्यम, क ख ग और कल्पना जैसी पत्रिकाओं में उनके लेख प्रकाशित हो चुके थे। इसी दौर में उनका 'नयी कविता' (जगदीश गुप्त द्वारा संपादित) में वह महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ जिसकी चर्चा नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक 'कविता के नए प्रतिमान' में की है। पुस्तक रूप में उनकी तीन कृतियाँ हैं—निबंध कोष, आधुनिक हिंदी कविता में बिम्ब विधान (1978) और मुंडारी एवं उनका काव्य। 'निबंध कोष' छात्रों को ध्यान में रखकर लिखे गए निबंधों का संकलन है और 'आधुनिक हिंदी कविता का बिंब-विधान', उनका शोध प्रबंध, जिस पर उन्हें 1973 में डी.लिट्. की उपाधि मिली थी। आजकल आमतौर पर अकादमिक लेखन और आलोचना के बीच एक फाँक देखी जाती है। मगर नागेश्वर लाल के लेखन-वाचन में यह फाँक नहीं दिखलाई देती है, भले बगैर पढ़े ही कतिपय लोग इन पुस्तकों को अकादमिक कहकर उदासीनता बरतें। इनके जो छिटपुट निबंध उस दौर की प्रमुख पत्रिकाओं में प्रकाशित

हुए, उनमें जो इनकी सूक्ष्म विवेचनात्मक दृष्टि और धारदार शैली दिखलाई देती है इनकी उपर्युक्त पुस्तकों में भी मौजूद है। वे कक्षा में जो व्याख्यान देते थे और गोष्ठियों, विश्वविद्यालयों के रिफ्रेशर और ओरियंटेशन कार्यक्रमों में जो भाषण देते थे उनमें कोई फर्क नहीं होता था। हर जगह उनकी मुक्त चिंतन-शैली और अजसवी तेवर समान रूप से दिखलाई देता था। गोष्ठियों से लेकर व्यक्तिगत बातचीत में उनकी एक खासियत यह थी कि वे अपनी बात पर अड़ते थे, पर तर्कों के साथ। इसी के साथ-साथ वे दूसरे की बात भी उतने ही गौर से सुनते थे। वे बहस करने के लिए सामने वाले को प्रोत्साहित भी करते थे और स्वस्थ बहस में कभी मैंने उत्तेजित होते नहीं देखा। इसीलिए वे जिस गोष्ठी में जाते थे वह बहुत जीवंत गोष्ठी सिद्ध होती थी। दिसंबर 1970 में 'सिर्फ' के संपादक नंदकिशोर नवल ने पटना में युवा लेखकों का एक बड़ा सम्मेलन करवाया था। उसमें नागेश्वर लाल ने 'आलोचना क्यों' पर एक पर्चा पढ़ा था, जिस पर अच्छी-खासी बहस हुई थी।

नागेश्वर लाल का व्यक्तिगत जीवन बहुत ही विरोधाभासी, विवादास्पद और असंगतियों से भरा हुआ था। एक ओर वे परंपरागत पारिवारिक संरचना को बनाए रखना चाहते और दूसरी ओर इसका जितना खामियाजा उन्हें उठाना पड़ा, उतना ही उनके पूरे परिवार को। वे एक दुलमुल किस्म के समीक्षक, स्थानीयता के शिकार टिप्पणीकार बनकर रह गए थे। वे बहुत प्रतिभाशाली, बहुत संवेदनशील और उदात्त मानवीय भावनाओं से भरे हुए थे पर यह विडंबना ही कही जाएगी कि पारिवारिक जीवन और आलोचना दोनों में वे अराजक, दायित्वहीन, बल्कि कभी-कभी क्रूर भी नजर आने लगते थे और उत्तर आधुनिकता ही नहीं, नस्लभेदी थैचरवाद तक से प्रभावित हो गए थे। विरोधाभासों और असंगतियों का ही परिणाम था कि जो नागेश्वर लाल ऊपर से जीवंत, उत्साही और निर्द्वंद्व दिखलाई पड़ते थे, अंदर से बुरी तरह टूटे-बिखरे, उपेक्षित और जीवन के समर में पराजित योद्धा थे।

अन्नदा कॉलेज, हजारीबाग (झारखंड) मो.
09576119790

निवेदन

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय ने हिंदी साहित्य को इंटरनेट पर उपलब्ध करवाने हेतु एक महत्वपूर्ण योजना पर कार्य प्रारम्भ किया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग समर्थित इस परियोजना के प्रथम चरण में भारतेन्दु युग से लेकर 1950 तक के कॉपीराइटमुक्त हिंदी साहित्य के चुनिन्दा एक लाख पृष्ठ 'हिंदीसमयडॉटकॉम' नामक वेबसाइट में उपलब्ध करवाए जाएँगे। हिंदी साहित्य की सभी विधाओं से महत्वपूर्ण सामग्री का चयन, संपादन और प्रस्तुतीकरण इस प्रकल्प के अन्तर्गत किया जाएगा।

इस परियोजना के तहत 'हिंदीसमयडॉटकॉम' पर सर्वप्रथम उन लेखकों की रचनाओं को प्रस्तुत किया जाएगा जिनका कॉपीराइट खत्म हो गया है। तत्पश्चात्, लेखकों व प्रकाशकों की सहमति/अनुमति से अन्य उत्कृष्ट रचनाओं को इस वेबसाइट में शामिल किया जाएगा। 'हिंदीसमयडॉटकॉम' में म.गां.अं. हिं.वि.वि. द्वारा प्रकाशित सामग्री, यथा, संचयिता, छवि-संग्रह आदि को भी उपलब्ध करवाया जाएगा।

'हिंदीसमयडॉटकॉम' इंटरनेट पर हिंदी साहित्य के प्रलेखन और ग्लोबल उपलब्धता का प्रतिनिधि जालघर होगा जिसमें भारतेन्दु के नाटक, रामचंद्र शुक्ल के निबंध, प्रेमचंद के उपन्यास और जयशंकर प्रसाद की कविताएँ अपनी समग्रता में, 'डायस्पोरा' सहित, दुनियाभर में फैले हिंदी पाठकों को उपलब्ध होंगी। अंग्रेजी में क्लासिक रीडरडॉटकॉम (www.classicreader.com) और गुटेनबर्गडॉटकॉम (www.gutenberg.org) जैसे जालघर अंग्रेजी के नामचीन लेखकों के साहित्य को इसी तरह घर बैठे उपलब्ध करवाते हैं। इस अनूठी वेबसाइट की सामग्री का चयन एवं संग्रहण हिंदी लेखकों-पाठकों-प्रकाशकों-संपादकों-प्राध्यापकों-शोधार्थियों के साथ गहन सम्पर्क और अंतर्क्रिया से ही सम्भव है। अतः हिंदी साहित्य से जुड़ाव रखनेवाले सभी सहृदय सामाजिकों से अनुरोध है कि इस परियोजना को समावेशी और बेहतर स्वरूप प्रदान करने के लिए अपने उपयोगी सुझाव तो दें ही, सामग्री-संग्रहण और प्रस्तुतीकरण के कार्य में भी सहयोगी हाथ बढ़ाएँ। परियोजना हेतु देश के विभिन्न स्थानों/केन्द्रों में मानदेय के आधार पर स्थानीय कार्यकर्ताओं के चयन का कार्य भी शीघ्र प्रारम्भ किया जाएगा।

स्मृतियों के संबल से भविष्य की बुनावट

प्रीति सागर

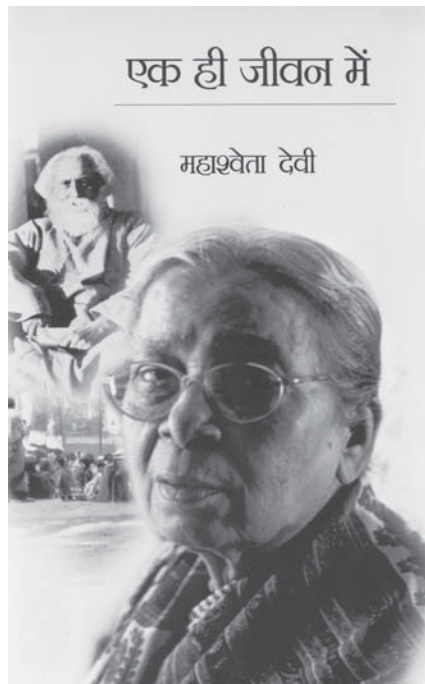
म

महाश्वेता देवी की आत्मकथा का आरंभिक खंड है, 'एक ही जीवन में'। अपने सृजन कर्म से देश-विदेश में लोकप्रिय और सम्मानित होती रहीं महाश्वेता देवी भारतीयों के लिए एक ऐसा व्यक्तित्व हैं, जिन्होंने न केवल भारतीय मेधा को विश्व मंच पर प्रतिष्ठित किया वरन् उन अनाम लोगों के हक के लिए लड़ने का बीड़ा उठाया जो लंबे समय से स्वयं को उपेक्षित अनुभव करते रहे हैं। महाश्वेता देवी की मात्र अट्ठासी पृष्ठों की संक्षिप्त इस कृति के मुख्यतः तीन भाग हैं। पहला भाग शांतिनिकेतन और रवींद्रनाथ टैगोर की स्मृतियों को संजोए है। दूसरा महत्त्वपूर्ण हिस्सा 'जिन्हें मैंने देखा है, शीर्षक से है, जिसमें महाश्वेता देवी ने महत्त्वपूर्ण लेखकों से अपने परिचय को भावपूर्ण शब्द दिए हैं। अंतिम भाग 'लेखिका होने के पीछे' शीर्षक से अंकित है जिसमें उन्होंने स्वयं के लेखिका होने के कारणों की पड़ताल की है। जीवन की आलोचना का सच्चा प्रतिनिधित्व करने वाली विधाओं में आत्मकथा का स्थान सर्वोपरि माना गया है।

महाश्वेता की यह आत्मकथा, उनके अपने समय का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। वास्तव में आत्मकथाकार, आत्मकथा लिखते समय इतिहास चेतना से भी बंधा हुआ होता है। किसी भी व्यक्ति का वर्तमान अतीत के विचारों और कर्मों से निर्मित होता है। इसलिए आत्मकथा में व्यक्ति और समाज का इतिहास निहित होता है बल्कि, "आत्मकथा में कई बार आत्म महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता। उसके बहाने समय और समाज की कहानी कही जाती है, उनके विकास क्रम का चित्रण किया जाता है।" (आत्मकथा की संस्कृति, पंकज

चतुर्वेदी, वाणी प्रकाशन, पृ. 19) प्रस्तुत कृति में भी महाश्वेता के आत्म के बहाने शांतिनिकेतन और रवींद्रनाथ टैगोर लगातार उपस्थित रहते हैं बल्कि साथ-साथ चलते हैं। लेखिका ने स्वीकार भी किया है कि उनके लेखिका होने के पीछे शांतिनिकेतन का प्रेरक वातावरण भी उत्तरदायी है। शांतिनिकेतन और रवींद्रनाथ टैगोर दोनों के ही किसी परिचय की आवश्यकता नहीं है लेकिन महाश्वेता जी अपनी दृष्टि से रवींद्रनाथ टैगोर के व्यक्तित्व के कई पहलू स्पष्ट करती हैं या सामान्य पाठक के लिए शांतिनिकेतन के बारे में छोटी लेकिन महत्त्वपूर्ण जानकारी देती हैं, जैसे—“शांतिनिकेतन में इतवार नहीं, बुधवार छुट्टी का दिन होता है।”

सन् 1936 में शांतिनिकेतन में चौथी कक्षा में प्रवेश लेने वाली महाश्वेता देवी ने



शांतिनिकेतन के शालीन वैभव का अद्भुत चित्र खींचा है, "शांतिनिकेतन में ऐसी कोई बला नहीं थी। वहां सभी घर-मकान इस कदर खूबसूरत थे कि अनायास ही कहा जा सकता था—आ पहुंचे हैं किसी नए-निराले देश में।" (वही, पृ. 10) और फिर उस शालीन वैभव में रवींद्रनाथ का विराट व्यक्तित्व महाश्वेता देवी की लेखनी में जैसे मूर्त हो उठता है, "मैंने देखा, कितनी तीखी, चिलचिलाती हुई धूप की तपिश में रवींद्रनाथ 'उदयन' घर के बरामदे में, कुर्सी पर समाधिस्थ से बैठे रहते थे। समूची देह में कहीं, कोई हरकत, कोई हिलडुल नहीं। ऐसा लगता था, मानो उस प्रचंड तपिश, धधकते हुए सूरज और खौलती हुई गर्मी के साथ घुल-मिलकर वह इंसान एकाकार हो गया है। उस वक्त, वे प्रकृति के साथ, बिल्कुल एकात्म हो गए थे।" (वही, पृ. 11) शांतिनिकेतन में विद्यार्थियों के निवास स्थान का चित्रण आंखों के आगे जोगिया रंग ही बिखेर देता है, 'हमारे बिस्तर की बेडकवर आश्रम में निर्मित तांत से बनाई जाती थी। गाड़ी-चॉकलेट या कथई रंग की बेडकवर, उसमें हल्के जोगिया रंग का घनी डोरिया डिजाइन! हमारे बक्से- सामान रखने वाले कमरे के पर्दे भी हल्के जोगिया रंग के होते थे। धोबी की धुलाई के लिए दिए जाने वाले कपड़ों के लिए भी एक अलग बैग हुआ करता था, वह भी हल्के जोगिया रंग का होता था। (वही, पृ. 10)

रवींद्रनाथ टैगोर का व्यक्तित्व पूरी पुस्तक पर छाया है और बार-बार लगभग प्रत्येक अध्याय में अपनी उपस्थिति दर्ज कराता है। शांतिनिकेतन में प्रवेश लेने से पहले ही महाश्वेता देवी रवींद्रनाथ टैगोर के सृजन कर्म और रवींद्र संगीत के प्रति आकर्षित रहीं,

“इस तरह मेरे समूचे बचपन को घेरे हुए, वे मेरे आसपास बिखरे हुए थे।” (वही, पृ. 9) महाश्वेता जी के बचपन का वह प्रसंग बहुत रोचक है जिसमें उन्होंने बताया है कि शांतिनिकेतन में प्रवेश के लिए अपने पिता, बहिन और मां के साथ जब वह पहुंची तो रवींद्रनाथ और रामानंद चट्टोपाध्याय को साथ-साथ बैठे देखकर चट्टोपाध्याय को रवींद्रनाथ समझ लिया और मूर्खों की तरह सवाल किया, “तुम ही शायद रवींद्रनाथ हो?” (वही, पृ. 9) प्रकृति और शांतिनिकेतन के प्रति रवींद्र का अनूठा लगाव था। प्रकृति के सान्निध्य में रहकर ही वे शांतिनिकेतन की परिकल्पना साकार कर सके, “मेरा विश्वास है कि चाहे जाड़े का मौसम हो या गर्मी का या बरसात का, वे जो यूँ प्रकृति में तल्लीन रहकर बैठे रहते, दरअसल वे प्रकृति से ग्रहण करते थे। सिर्फ और सिर्फ आत्मसात करते थे। शांतिनिकेतन के बारे में भी उन्होंने गंभीर चिंतन किया। वहाँ उन्होंने शिक्षा के आदर्श गढ़े। वैसे यह स्थान उनका गवेषणागार था।” (वही, पृ. 27) रवींद्र के समाधिस्थ रूप के प्रति लेखिका के उद्गार देखिए, “बहरहाल, मैं उनसे डरती बिल्कुल नहीं थी! लेकिन जब वे समाधिस्थ मुद्रा में बैठे होते थे, मानो दोपहरी की धूप में रूल-मिलकर एक हो गए हों, उनकी वह मुद्रा देखते ही, मेरे पैर ठिठक जाते थे। मैं जहाँ की तहाँ खड़ी-खड़ी बस उन्हें निहारती रहती थी, लगातार! देर-देर तक! × × × हमने जिस रथी दा को देखा था वे सौंदर्य सृजन के आगार थे।” (वही, पृ. 20) रवींद्रनाथ टैगोर से संबद्ध हर चीज़ के प्रति लेखिका का उत्साह झलकता है, “मैं जोड़ासाकूँ में ठहरी थी। उफ! मेरी उत्तेजना का अंत नहीं था। जोड़ासाकूँ स्थित कोठी के बारे में, पहले ही मैं कितना कुछ पढ़ चुकी थी। वे किस कमरे में रहते थे, किन सीढ़ियों से वे छत तक जाते थे और रात-रात भर चहलकदमी करते थे, यह सब जानने के लिए मैं बेतरह आकुल-व्याकुल हो उठी थी।” (वही, पृ. 28)

शांतिनिकेतन के प्रति महाश्वेता जी का अगाध स्नेह है। प्रस्तुत कृति के दूसरे ही अध्याय ‘तुम्हारी उन्मुक्त बयार’ में लेखिका ने ‘शांतिनिकेतन : प्राचीन-मध्य-वर्तमानकाल के लेखक ननीगोपाल सिकदार को सैंकड़ों

धन्यवाद ज्ञापित किए हैं क्योंकि लेखिका के मत में यह पुस्तक शांतिनिकेतन के संबंध में रवींद्रनाथ की संकल्पना को प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत करती है। लेखिका ने अन्यत्र दो स्थलों पर भी इस पुस्तक के लेखक के प्रति कृतज्ञता प्रकट की है। 7 अगस्त 1941 को अपने स्कूल की हेडमिस्ट्रेस से रवींद्रनाथ की मृत्यु का दुखद समाचार पाने के बाद टैगोर की अंतिम यात्रा का वर्णन पाठक को शोकाकुल कर देता है, “कौन सुनेगा! उस दिन सड़कों पर इतने-इतने लोग उमड़े थे; इतनी भीड़ हुई कि जिसने भी आंखों से नहीं देखा, वह इसका अंदाज़ा भी नहीं लगा सकता। शायद मेरे बयान पर भरोसा भी नहो। जोड़ासाकूँ से जो प्रबंध किया गया था, वह कायम नहीं रहा। भीड़ का हर इंसान उन्हें कंधा देने को बेचैन हो उठा। अस्तु लोगों के कंधे पर सवार, कवि की देह, मानो प्रबल धार में बह चला।” (वही, पृ. 32) टैगोर की मृत्यु के बाद आश्रम की आर्थिक स्थिति के बारे में सुनकर महाश्वेता देवी द्वारा अपने स्कूल में चंदा एकत्रित कर शांतिनिकेतन को भिजवाना, उस स्थान के प्रति उनके लगाव और जुड़ाव को ही व्यक्त करता है। सन् 1944 के अंत में महाश्वेता देवी ने पुनः शांतिनिकेतन में दाखिला लिया, “लेकिन इस बार शांतिनिकेतन में जैसे कहीं कुछ गुम हो चुका था। एक इंसान जा चुका था। मानो असमय ही चले गए। वे अपना शांतिनिकेतन किन हाथों में सौंप गए?” (वही, पृ. 34) ‘शांतिनिकेतन—रवींद्रनाथ के जमाने में और आज के जमाने में’ शीर्षक आठवें अध्याय में महाश्वेता देवी ने उस विडंबनापूर्ण स्थिति पर विचार किया है जो विश्वप्रतिष्ठित संस्था की छवि को धूमिल कर रही है। इस संबंध में सन् 1989 में निर्मित श्री निकेतन शांतिनिकेतन उन्नयन संस्था की कुछ नकारात्मक गतिविधियों का भी उल्लेख है। रवींद्रनाथ के समय के शांतिनिकेतन के बारे में लेखिका का कहना है कि, “उस समय का शांतिनिकेतन, यथासंभव इंसान रचने-गढ़ने की कोशिश में लगा था।” (वही, पृ. 48) इसी कारण महाश्वेता जी अपने लेखन के माध्यम से समाज को जो कुछ दे सकी हैं, उसके मूल में वे शैशव-शिक्षा का भी ऋण स्वीकार करती हैं। वस्तुतः जीवन का यह

आरंभिक खंड ही महाश्वेता देवी के व्यक्तित्व निर्मिति का आधार बना है, “वह पहला अध्याय मेरी समूची जिंदगी पर बिछा हुआ है।” (वही, पृ. 14)

विविध विषयों में गहरी रुचि और गति रखने पर भी लेखिका का बड़प्पन है कि वह स्वयं को जानकार नहीं वरन् जिज्ञासु ही पाती है, “मैं बेहद कम जानकार हूँ, बेहद कम-सी पढ़ी-लिखी हूँ। अब, अपने को बदल डालूँ, इतना वक्त नहीं रहा। लेकिन, मेरे मन में कितना कुछ लिखने, कितना कुछ जानने की तीखी चाह ज़रूर है; हालांकि मैं यह भी जानती हूँ कि अब मुझे इतना वक्त नहीं मिलेगा।” (वही, पृ. 31) कई प्रसंगों के संबंध में जब लेखिका की स्मृति धोखा देती है या जानकारी नहीं होती तब वह ईमानदारी से अपनी कमी स्वीकार कर लेती है।

नौ अध्यायों के बाद ‘जिन्हें मैंने देखा है’ शीर्षक से एक पृथक् अध्याय है जिसमें लेखिका ने अपने समकालीन और वरिष्ठ लोगों से प्राप्त स्नेह एवं आशीष को संजोया है। लेखिका का लक्ष्य नए लेखकों को यह स्पष्ट करना है कि उस समय पुराने लेखक नए लेखकों के प्रति कैसा भाव रखते थे। उस समय के सभी लेखक इंसानी तौर पर अलग-अलग मिजाज के थे। लेकिन, नए लेखकों के प्रति वे लोग स्नेहभरे थे।” (वही, पृ. 57) महाश्वेता देवी अपनी आज की सफलता के पीछे उस ज़माने के प्रतिष्ठित साहित्यिक लोगों के अवदान को स्वीकार करती हैं। वे याद करती हैं कि अनगिनत लोगों के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग से उनका पहला उपन्यास ‘झांसी की रानी’ अस्तित्व में आया और उस समय की प्रतिष्ठित पत्रिका ‘देश’ में प्रकाशित हुआ।

‘लेखिका होने के पीछे...’ पुस्तक का अंतिम अध्याय है। इसमें महाश्वेता देवी ने अपने लेखिका बनने के पीछे पारिवारिक परिवेश एवं प्रेरणा का उल्लेख किया है। अपनी नानी के समृद्ध बंगला पुस्तकों के संग्रह और पुस्तक प्रेम के बारे में लेखिका लिखती हैं, “नानी का पुस्तक प्रेम ऐसा था कि अब सोचो तो अचरज होता है। वे सिर्फ कहानी, उपन्यास ही नहीं पढ़ती थी, हर किस्म की किताबें पढ़ती थीं। मैंने मुख्यतः कहानी, उपन्यास ही पढ़े थे। नानी तो साहित्य, नारी जगत, देश



आत्मकथा

विचारों की परख और मुक्तिकामी दर्शन

ब्रह्मानंद

द

लित आत्मकथा लेखन के क्रम में डॉ. तुलसी राम की नव प्रकाशित आत्मकथा 'मुर्दहिया' कई मायनों में दलित साहित्य के विविध

आयामों को उद्घाटित कर, एक नए सौंदर्यबोध, सामाजिक बोध एवं राजनीतिक बोध को व्यक्त करने का उपक्रम करती हैं। इस आत्मकथा में तुलसी राम ने अपनी जीवन का वर्णन तो किया ही है साथ ही पूर्वी उत्तर प्रदेश की पिछड़ी जातियों के उन तमाम अनुभवों से साक्षात्कार कराया है जो उनके यातनामय कठिनतम जीवन को बयान करते हैं। मुर्दहिया में उ.प्र. की विभिन्न पिछड़ी जातियाँ, जिनमें प्रमुख रूप से नाई, धोबी, मुसहर तथा नटों के जीवन पर भी, संक्षिप्त किंतु गंभीर चर्चा हुई है। गंभीर इसलिए क्योंकि इन जातियों का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है। ये जातियाँ पूर्वी उत्तर प्रदेश से लेकर लगभग विभिन्न प्रांतों में फैली हुई हैं। इन जातियों के अनुभव तथा उनका सामाजिक जीवन हमें पहली बार तुलसी राम की आत्मकथा में देखने को मिलता है। एक प्रकार से 'मुर्दहिया' का क्षेत्र न केवल व्यापक है, बल्कि वह उन विषयों को भी प्रभावशाली ढंग से स्पर्श करती हुई निकलती है जिसकी चर्चा अभी तक दलित आत्मकथा में नहीं हुई थी। यहां यह कहना ज्यादा उचित होगा कि तुलसी राम का परिवेश, उन्हें ईमानदारी के साथ लिखने के लिए मजबूर कर देती है। 'धरमपुर' गाँव की सामाजिक बुनावट तुलसी राम की चेतना को निर्मित करती है। यथा उत्तर में अहीर, एक घर गडरिया तथा एक घर गोड़ (भड़भूजा) का था। बीच में बभनौटी (ब्राह्मण टोला) तथा तमाम गाँवों की परंपरा के अनुसार दक्षिण में

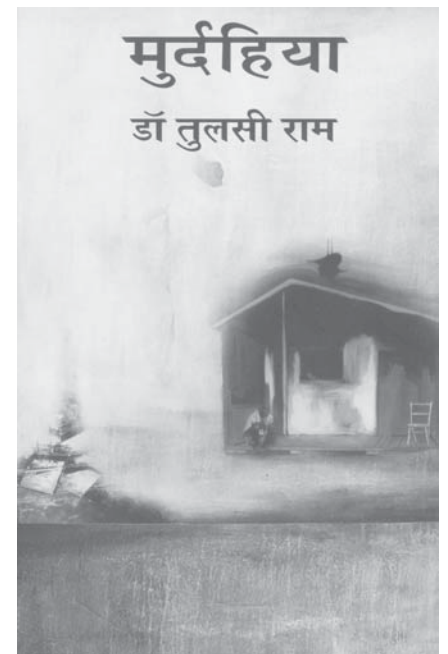
हमारी बस्ती।' यहां यह स्पष्ट करना जरूरी जान पड़ता है कि तुलसी राम के गाँव की यह बुनावट अन्य दलित आत्मकथाओं की बुनावट से भिन्न है। अहीर, मुसहर, नट, धोबी तथा नाई, तथा ब्राह्मण और दूसरी तरफ तुलसी राम का समुदाय। अगर हम तुलसी राम और ब्राह्मण समुदाय को कुछ पल के लिए छोड़ दें तो यह जानकर आश्चर्य होता है कि मुसहर, नट, गोड़, गडेरिया आदि ये वो जातियाँ हैं जिनका क्षेत्र पूर्वी उ.प्र. से लेकर बिहार तक हैं और उनकी दशा इतनी दयनीय है कि जिसकी कल्पना करके मन सिहर उठता है। इनकी प्रायः चर्चा दलित विमर्श के अंतर्गत नहीं की जाती थी। मुर्दहिया ने इसकी क्षतिपूर्ति की है। दूसरे शब्दों में इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि 'मुर्दहिया' बहुजन समाज के कंसेप्ट को निर्मित करने के उपक्रम में एक सार्थक पहल है। मुर्दहिया

के बारे में—ये सारा कुछ पढ़ती थीं। हर तरह के निबंध पढ़ा करती थीं। घर में 'प्रवासी', 'विचित्रा' और 'भारतवर्ष' वगैरह पत्रिकाएँ भी मंगाया करती थीं। उन पत्रिकाओं की सन् तारीख वगैरह मिलाकर जिल्द में बांधकर आलमारी में सजाए रखती थीं।' (वही, पृ. 80) पढ़ने के संस्कार विशेषकर समझकर पढ़ने के संस्कार नानी की ही देन थे, "पढ़ना सिखाने की कोशिश नानी ने की थी। हम पढ़ते नहीं थे, निगलते थे। हम पढ़ाई शुरू करते थे और समाप्त करने की कोशिश करते थे।" (वही, पृ. 80) नानी द्वारा निरंतर प्रोत्साहित करने पर भी लेखिका अपनी कमी स्वीकार करती है, "मैं मननशील छात्रा नहीं थी। इसलिए सब कुछ याद नहीं कर पाई।" (वही, पृ. 81) नानी की प्रेरणा के कारण ही लेखिका किताबों के महत्त्व को समझ पाई।

आत्मकथा में पिरोई ये यादें महाश्वेता जी के लिए ऐसी हैं, जैसे, "कई-कई युगों पार, बादल के किसी टुकड़े पर लिखी हुई याद जैसी!" (वही, पृ. 9)

एक ही जीवन में (आत्मकथा का आरंभिक खंड)/ महाश्वेता देवी/ अनुवाद—सुशीला गुप्ता/ प्रकाशन संस्थान, 4268-बी/3, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 125

रीडर, साहित्य विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय, हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)



हमें मजबूर करती है कि हम 'दलित' शब्द को इस नए अर्थबोध के आलोक में देखें। यह नया अर्थबोध ही 'मुर्दहिया' को दलित आत्मकथाओं में विशिष्ट स्थान देता है और अन्य आत्मकथाओं से भी अलग करती है। साथ ही उन गैर-दलित आलोचकों को भी यह जवाब देती है जो दलित साहित्य पर एकरूपता का आरोप लगाते हैं। तुलसी राम का शिक्षा के लिए किया जाने वाला संघर्ष, स्कूल के अध्यापक एवं तथाकथित उच्च जाति के सहपाठियों द्वारा 'चमरा' कहे जाने पर उनके मन पर पड़ने वाले मानसिक आघात, और सबसे चौकाने वाली घटना, स्कूल के कुएँ के चबूतरे को छूने पर, स्कूल के मुंशी (अध्यापक) की दिन भर गालियाँ सुनने के बाद, दुबारा पानी पीने की हिम्मत न जुटा पाना, एक बार फिर से भारतीय सभ्यता संस्कृति से तथाकथित उदात्त रूप को ही प्रकट करती है।

आजमगढ़ के जिस राजनीतिक एवं सामाजिक माहौल में लेखक के व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है, उसकी चर्चा किए बिना लेखक की चेतना को समझ पाना न केवल मुश्किल है, बल्कि नामुमकिन भी। लेखक के व्यक्तित्व पर 'सब कमाई सब खाई' का व्यापक प्रभाव है जैसा कि तुलसी राम स्वयं इस मुहावरे पर से पर्दा उठाते हुए लिखते हैं कि 'जब मैं जाने या अनजाने में समाजवाद तथा सोवियत संघ से आठ वर्ष की उम्र में प्रभावित हुआ था। मेरे पिताजी प्रायः कहा करते थे : 'अधपेटवा खाना विरही बोल' किसी के लिए सहना मुश्किल होता है। ऐसी परिस्थितियों से गुजरने वाले वातावरण में 'हकबट' तथा सभी कमाएँगे सभी खाएँगे, इतना ज्यादा मेरे दिल को छू गए थे कि मैं आने वाली सारी जिंदगी में समाजवाद तथा सोवियत संघ का अंध भक्त बना रहा।' एक तरफ तो आजमगढ़ के दलित नेता सुरजन राम के द्वारा दीवार पर बनाया गया हिंसा बाली का चित्र तुलसी राम के जेहन में स्थाई रूप से बस गया था। 'मेरे घर के सामने वाली दीवार पर गेरू के एक विशाल हंसिया पर चढ़ी गेंहू की बाली का चित्र बनाकर सबसे पार्टी को वोट देने की अपील की और पास वाले गाँव में चले गए। मैं रोज सुबह-शाम दीवार पर उस निशान के सामने खड़ा होकर

देखता रहता। साथ ही उन दोनों कार्डों को हमेशा अपने कुर्ते की पाकेट में रखता और दिन में पचासों बार निकालकर बड़े गौर से हंसिया-बाली के निशान को देखता।'

निस्संदेह तुलसी राम की यह स्वीकारोक्ति हिंदी दलित साहित्य में अनेक बहसों को जन्म देगी। इसमें कोई संदेह नहीं है, परंतु 'मुर्दहिया' से केवल समाजवाद के स्वर ही सुनना बेमानी होगी। लेखक के जीवन पर बाबा साहेब अंबेडकर के आंदोलन का भी व्यापक प्रभाव पड़ रहा था। बाबा साहेब के आह्वान पर दलित समाज 'डांगर' खाने की कुप्रथा से मुक्ति पा रहे थे। जो लोग इस प्रथा को नहीं छोड़ रहे थे, उन पर दलितों की बारह गाँवों की पंचायत दंड लगाती थी। जिसके मुखिया स्वयं तुलसी राम के पिताजी के बड़े भाई थे। मानव मुक्ति की इन दोनों चेतनाओं से लैस तुलसी राम पर जिस अन्य व्यक्ति का प्रभाव पड़ा, वह थे महात्मा बुद्ध। लेखक का पहली बार महात्मा बुद्ध से सामना नौवीं कक्षा की अंग्रेजी विषय की पुस्तक 'फाइटर्स ऑफ फ्रीडम' में संकलित 'गौतम बुद्ध' नामक अध्याय पढ़कर हुआ था, ठीक पहले की तरह इस अध्याय ने तुलसी राम के बाल मन को काफी प्रभावित किया। 'इस छोटे से पाठ ने मेरे (तुलसी राम के) मस्तिष्क में एक चलता-फिरता चलचित्र-सा छाप दिया था। हरदम घुड़सवार बुद्ध मेरी कल्पना से गुरजते रहे।...हाई स्कूल से आगे ज्ञान की तलाश मुझे भी थी, इसलिए गौतम बुद्ध अत्याधिक प्रिय लगने लगे।' महात्मा बुद्ध का तुलसी राम के जीवन पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि वह बुद्ध की राह चलते हुए ज्ञान प्राप्ति के लिए घर छोड़ देते हैं और फिर उच्च शिक्षा का सफर शुरू करते हैं। इस प्रकार तीनों विचारकों (जिसमें बुद्ध, मार्क्स और अंबेडकर) से प्रभावित होकर तुलसी राम अपना जीवन संघर्ष करते हैं। यह सफर 'मुर्दहिया' में प्रत्येक स्थल पर दिखाई पड़ता है। अगर तटस्थ रूप से कहा जाए तो यह आत्मकथा हिंदी दलित साहित्य में दलित चिंतन की सशक्त जमीन तैयार करती है। दलित चिंतन



फुले-अंबेडकर दर्शन को प्राथमिकता देता है, जबकि मार्क्स के चिंतन को भारतीय सामाजिक संरचना के अनुसार द्वितीय स्थान देता है। मुर्दहिया में तीनों विचारधारा को एक साथ लिया गया है, लेकिन मार्क्सवादी चिंतन की ओर उसका झुकाव रहा है।

निस्संदेह यह एक बड़ा प्रश्न है जिस पर गंभीरतापूर्वक सोचना होगा। साथ ही 'मुर्दहिया' के अगले खंड की भी प्रतीक्षा करनी होगी, जिससे भी कुछ बातें और खुल कर सामने आ सकें। अंत में तुलसीराम ही आत्मकथा 'मुर्दहिया' हिंदी दलित साहित्य में एक नए तेवर और चुनौती के साथ उपस्थित हुई है। जो उन गैर दलित आलोचकों को भी करारा जवाब देती है जो दलित साहित्य को दलित राजनीति का पर्याय और जातिवादी मानते हैं, तथा दलित साहित्य में व्याप्त मानवीय मूल्यों की उपेक्षा करते हैं।

मुर्दहिया/ तुलसी राम/ राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष नगर, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 250

ए-773, बुद्धा मार्ग, मंडावली, दिल्ली-110092, मो. 9810279669

ग्रंथावली

वर्तमान की नींव का ज्ञान

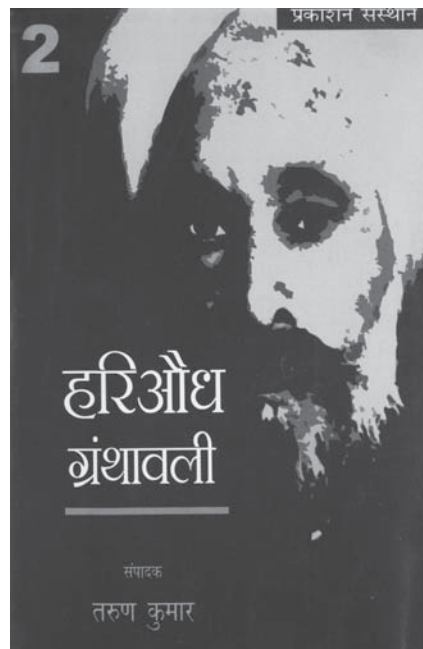
योगेश प्रताप शेखर

आ

ज हिंदी साहित्य के व्यवहार की भाषा खड़ी बोली है। एक जमाने में यह भाषा ब्रजभाषा हुआ करती थी। ब्रजभाषा से खड़ी बोली तक की विकास-यात्रा में हिंदी साहित्य विभिन्न पड़ावों और मोड़ों को पार करता हुआ चला है। जाहिर है कि ब्रजभाषा से खड़ी बोली तक की विकास-यात्रा में हिंदी साहित्य विभिन्न पड़ावों और मोड़ों को पार करता हुआ चला है। जाहिर है कि ब्रजभाषा से खड़ी बोली में यह रूपांतरण आकस्मिक नहीं था। इसके लिए वाद-विवाद-संवाद की जरूरी प्रक्रिया जरूर घटित हुई होगी। यह पूरी प्रक्रिया अपने रचनात्मक रूप में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के साहित्य में सबसे अधिक घटित होती हुई दिखाई देती है। एक समय था कि हरिऔध जी 'कवि सम्राट' कहे जाते थे। धीरे-धीरे उनकी रचनाएँ अप्राप्य होती गईं और वे लगभग विस्मृत होते चले गए। बस अपवादस्वरूप उनके द्वारा रचित खड़ी बोली के पहले महाकाव्य 'प्रियप्रवास' को, चूँकि पाठ्यक्रमों में जगह मिली हुई है, इसलिए वे केवल इसी के सहारे 'गाहे-बगाहे' याद कर लिए जाते हैं। इसका प्रमाण यह है कि पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में 'प्रियप्रवास' को छोड़कर उनकी दूसरी कोई किताब शायद ही हो जो दुबारा छपी हो। उनके आरंभिक प्रकाशकों की प्रकाशन-संस्थाएँ दम तोड़ चुकी हैं। ऐसी स्थिति में डॉ. तरुण कुमार द्वारा संपादित 'हरिऔध ग्रंथावली' का प्रकाशन महत्त्वपूर्ण और विचारणीय है।

हरिऔध ग्रंथावली का यह प्रकाशन सात खंडों में हुआ है। हिंदी में एक आम धारणा यह भी है कि ब्रजभाषा बनाम खड़ी

बोली के संघर्ष के जमाने में खड़ी बोली से संबंधित कवि ब्रजभाषा से कुट्टी किए हुए थे। वस्तुतः ऐसा था नहीं। न केवल द्विवेदी युग के खड़ी बोली के महत्त्वपूर्ण कवि, यथा, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' आदि, अपना कवि-कर्म ब्रजभाषा में भी करते थे बल्कि छायावादी जयशंकर प्रसाद ने भी 'कलाधर' उपनाम से अपनी शुरुआती कविताएँ ब्रजभाषा में ही लिखी थीं। ऐसी हालत में हरिऔध जी भी ब्रजभाषा से कटे हुए न थे। 'रसकलस' उनकी ब्रजभाषा-कविता का सर्वोत्तम उदाहरण है। साथ ही उनकी कई अन्य रचनाएँ भी ब्रजभाषा में हैं। जो इस ग्रंथावली के पहले खंड में एकत्रित हैं। इसके अलावा खड़ी बोली में लिखित ब्रजभाषा संबंधी एक पुस्तक 'विभूतिमयी ब्रजभाषा' भी है जो सातवें खंड में संकलित हैं।



प्रस्तुत ग्रंथावली के दूसरे, तीसरे और चौथे खंड में खड़ी बोली में रचित हरिऔध जी की विपुल काव्य-राशि एकत्र है। दूसरे खंड में 'प्रियप्रवास' के अलावा उनके दो और महाकाव्य—वैदेही वनवास तथा पारिजात— संकलित हैं। 'प्रियप्रवास' उनकी साधना का शिखर तो है ही परंतु बाकी दोनों महाकाव्यों से गुजरने के बाद पाठकों को एक नए प्रकार की काव्यास्वाद मिलेगा इसमें संदेह नहीं। प्रायः यह समझा जाता है कि हरिऔध जी सिर्फ खड़ी बोली कविता की भाषा और शिल्प में प्रयोग करते रहे। लेकिन तीसरे और चौथे खंड को पढ़ने के बाद यह धारणा दरकने लगती है। 'पारिजात' के बारे में विद्वान संपादक ने लिखा है—'मनोरम विचारों के सौंदर्य की अनेकशः झांकी इस काव्य में देखने को मिलती है। इसे पढ़ना एक विलक्षण अनुभव से गुजरना है क्योंकि यह प्रकारान्तर से हरिऔध जी की विश्व-दृष्टि का काव्यमय आख्यान है। हरिऔध जी की विश्वदृष्टि यानी आधुनिक विश्व-दृष्टि। शायद ही कोई ऐसा विषय यहां छूटने पाया हो जो हमारी असमाप्य जीवन-यात्रा का अभिन्न अंग न हो।' यही बात हरिऔधी जी द्वारा रचित खड़ी बोली की पूरी रचनाओं पर लागू होती है। इस बात का पता केवल चौथे खंड को देखने से ही चल जाता है। जिसमें उनकी खड़ी बोली की स्फुट कविताएँ संकलित हैं। इसी खंड में बच्चों के लिए लिखी कविताएँ भी एकत्र हैं। बिना अच्छे बाल-साहित्य के किसी भाषा का साहित्य समृद्ध हो ही नहीं सकता। हरिऔध जी संभवतः हिंदी के पहले कवि होंगे जिन्होंने विधिवत् बच्चों के लिए साहित्य रचा।

पांचवां खंड हरिऔध जी के रचनात्मक

गद्य का संकलन है। इसमें उनके दो उपन्यासों के साथ नाटक भी शामिल हैं। इन सबके अलावा 'इतिवृत्त' नाम की भिन्न मिजाज की पुस्तक भी इसी खंड में हैं। हिंदी उपन्यास के पाठक यह जानते हैं कि उनका 'ठेठ हिंदी का ठाठ' उपन्यास जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन के आग्रह पर लिखा गया था और उस जमाने के 'इंडियन सिविल सर्विस' के पाठ्यक्रम में शामिल भी था। ठेठ हिंदी के प्रति इस आकर्षण का तार कहीं-न-कहीं हिंदी-उर्दू विवाद के समाधान से भी जुड़ता है। इसीलिए इस उपन्यास की भाषा पर अलग से विचार करने की जरूरत है।

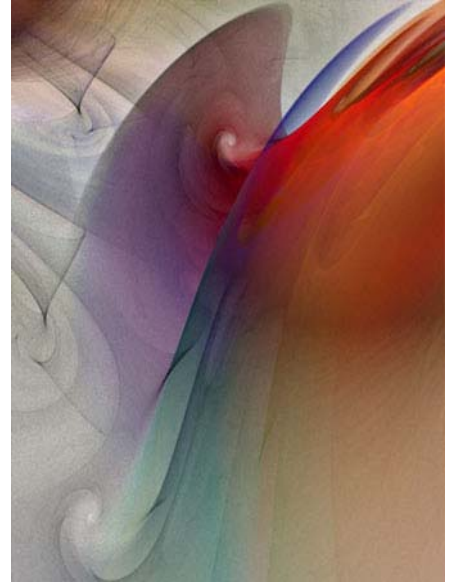
छठा और सातवां खंड हरिऔध जी के आलोचनात्मक लेखन का संग्रह है। छठे खंड में उनकी पुस्तक 'हिंदी भाषा और साहित्य का विकास' संकलित हैं। हिंदी साहित्य की परंपरा को समझने के प्रयास में यह पुस्तक तैयार की गई थी। सातवां खंड उनके लेखों और उनकी पुस्तकों की भूमिकाओं का संग्रह है। भूमिकाओं में 'कबीर वचनावली' और 'बोलचाल' की भूमिका महत्वपूर्ण है। कबीर वचनावली 1926 ई. में प्रकाशित हुई थी। हिंदी में कबीर के प्रति दिलचस्पी जगाने में इस पुस्तक का अविस्मरणीय योगदान है। इसी तरह 'बोलचाल' किताब की भूमिका हिंदी भाषा के मुहावरों को समझने के लिए अनिवार्य है। इन सबके अलावा महादेवी वर्मा की किताब 'नीहार' की भूमिका भी यहां संकलित है। जिसमें छायावाद को एक तरह से हरिऔध जी ने स्वीकृति दी थी। इसमें उन्होंने लिखा है—“ग्रंथ सर्वथा निर्दोष नहीं, किंतु इसमें अनेक इतनी सजीव और सुंदर पंक्तियाँ हैं कि उनके मधुर प्रवाह में उधर दृष्टि जाती ही नहीं। प्रफुल्ल पाटल प्रसून में कांटे होते हैं, हों, किंतु उसकी प्रफुल्लता और मनोरंजकता ही मुग्धकारिता की संपत्ति है। ऐसा कहकर मैं नियमन की अवहेलना नहीं करता हूँ—सहृदयता का नेत्रोन्मलीन कर रहा हूँ। कहा जा सकता है एक स्त्री का उत्साहवर्द्धन करने के लिए चे बातें कही गईं। मैं कहूँगा यह विचार समीचीन नहीं, ऐसा कहना स्त्री जाति की सर्वतोमुखी प्रतिभा को लांछित करना है।” यहां यह याद रखना है कि 'नीहार' का प्रकाशन 1930 ई. में

हुआ था। ऊपर हरिऔध जी की जिस आधुनिक दृष्टि की चर्चा की गई वह यहां साफ प्रकट है।

चूंकि हरिऔध जी का संपूर्ण साहित्य प्रकाशन के स्वत्वाधिकारों से मुक्त हो चुका है इसलिए हिंदी के एक अन्य मान्य प्रकाशक के यहां से भी उनकी ग्रंथावली दस खंडों में निकली है। हिंदी, बाजार और साहित्य के संबंध का यह एक नया परिप्रेक्ष्य है। इस ग्रंथावली का सबसे बड़ा दोष सामग्री की पुनरावृत्ति है। उदाहरण के लिए 'रस साहित्य और समीक्षाएँ' पुस्तक जो हरिऔध जी की मौलिक कृति नहीं है बल्कि उनकी मृत्यु के बारह साल बाद उनकी विभिन्न पुस्तकों, मुख्यतः—हिंदी भाषा और साहित्य का विकास एवं संदर्भ सर्वस्व—की सामग्री को लेकर तैयार की गई थी। 'संदर्भ सर्वस्व' पुस्तक भी हरिऔध जी ने खुद ही 'हिंदी भाषा और साहित्य का विकास' से सामग्री लेकर तैयार की थी। सारांश यह कि पूरी की पूरी 'रस साहित्य और समीक्षाएँ' पुस्तक और पूरी-की-पूरी 'संदर्भ सर्वस्व' पुस्तक को शामिल कर ग्रंथावली में एक ही सामग्री तीन-तीन बार दी गई है।

'हिंदी भाषा का उद्गम' नामक लेख भी जो सातवें खंड में तो शामिल है ही साथ ही आठवें खंड में भी दो जगह 'रस साहित्य और समीक्षाएँ' तथा 'संदर्भ सर्वस्व' में शामिल है। ऐसी आवृत्ति-पुनरावृत्ति से संबंधित अंश रचनावली में लगभग तीन सौ पृष्ठ से अधिक ही होंगे।

ठीक इसी तरह बहुत सारी अनावश्यक सामग्री भी उपर्युक्त ग्रंथावली में शामिल की गई है। 'स्वर्गीय संगीत' नामक काव्य जो 'पारिजात' में समाविष्ट है उसे भी अलग से शामिल किया गया है। फिर 'कबीर वचनावली' का मूल पाठ देने की क्या जरूरत थी? हिंदी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद से जो 'आधुनिक कवि' शृंखला निकलती है उसका भी हरिऔध जी से संबंधित 'पाठ' दिया गया है जो वस्तुतः 'चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे', 'बोलचाल' से कुछ अंशों को चुनकर तैयार किया गया था। हरिऔध जी ने कुछ अनुवाद भी किए थे। इस ग्रंथावली में उनके द्वारा किया गया अनुवाद 'वेनिस का बांका' शामिल है। ऐसा नहीं है कि उन्होंने सिर्फ



यही अनुवाद किया हो। कई पुस्तकें जैसे 'उपदेश कुसुम', 'विनोद वाटिका', 'कृष्णकांत का दानपत्र' उनके द्वारा किए गए अनुवाद ही हैं। ऐसी स्थिति में या तो अलग से एक 'अनुवाद' खंड बनाकर इन सबको शामिल करना था या अनुवाद शामिल नहीं करने थे पर इस अकेली अनूदित कृति को रखने का कोई औचित्य नजर नहीं आता।

कुछ अन्य मौलिक किताबें भी इस ग्रंथावली में नहीं हैं। ब्रजभाषा-काव्य, जो तरुण कुमार द्वारा संपादित ग्रंथावली में प्राप्य हैं, यहां लगभग अनुपलब्ध हैं। इसी तरह 'फूल पत्ते' और 'विभूतिमयी ब्रजभाषा' किताब भी इस ग्रंथावली में नहीं।

लेकिन इस ग्रंथावली में लगभग बीस-पच्चीस पृष्ठों की ऐसी सामग्री भी है जो, तरुण कुमार वाली ग्रंथावली में नहीं है। पहली पुस्तक है—'अच्छे-अच्छे गीत'। इसमें चौदह छोटी कविताएँ शामिल हैं। तरुण कुमार ने ग्रंथावली के पहले खंड की विज्ञप्ति में इस पुस्तक के अनुपलब्ध होने की बात कही है। दूसरी सामग्री है—'हरिऔध-आत्मचरित'। यह बीस उपशीर्षकों में विभाजित है। तरुण कुमार ने इसकी कोई चर्चा नहीं की है।

ऐसा नहीं है कि तरुण कुमार द्वारा संपादित ग्रंथावली त्रुटियों से पूर्णतः मुक्त है। उदाहरण के लिए उनका प्रत्येक खंड सुनियोजित है और उसे एक शीर्षक में रखने का प्रयास किया गया है। जैसे पहले खंड का उपशीर्षक 'ब्रजभाषा काव्य' और दूसरे खंड का उपशीर्षक 'खड़ी बोली काव्य' :

महाकाव्य' है। इसी प्रकार सारे खंडों के उपशीर्षक हैं। इनमें खंड दो और पांच के उपशीर्षक छूट गया है। ठीक इसी प्रकार खंड एक में 'काव्योपवन' की ग्यारह पृष्ठों की भूमिका भी संभवतः प्रकाशक की असावधानी के कारण छूट गई हैं। इसी खंड में 'रसकलस' के रचना-भाग में जहां शीर्षकों की सूची है, उसमें अंत में 'वीभत्स' और 'शांत' छूटा हुआ है।

इसी प्रकार खंड चार की संपादकीय भूमिका में 'हरिऔध दोहावली' के 'परिशिष्ट' रूप में जिन रचनाओं की चर्चा की गई है वे शामिल तो हैं लेकिन यथास्थान 'परिशिष्ट' शब्द उल्लिखित नहीं है। 'बाल कवितावली' के 'परिशिष्ट' के रूप में संपादकीय भूमिका में जिन चार कविताओं की चर्चा की गई है, वे वहां नहीं हैं। खंड चार ही के 'अनुक्रम' में पुस्तकों के नाम के साथ या तो कविताओं की मुकम्मल सूची दी जाती या सूची दी ही नहीं जाती। अनेक पुस्तकों के नाम के साथ शुरू की कविता का उल्लेख अनुक्रम में है, बाकी का नहीं। ठीक इसी तरह हरिऔध जी के पत्रों के बारे में कोई चर्चा संपादक ने नहीं की है। अगर वे लुप्त हो गए तो इसका जिक्र भी करना चाहिए था। उदाहरण के लिए खड्गविलास प्रेस के मालिक बाबू रामदीन सिंह, ग्रियर्सन और छतरपुर के राजा से हरिऔध जी के पत्राचार की सूचना मिलती है।

इस प्रकार दोनों ग्रंथावलियों के अवलोकन से यह नतीजा निकलता है कि तरुण कुमार द्वारा संपादित ग्रंथावली अपेक्षाकृत पूर्ण और ठीक-ठाक है। हरिऔध जी का साहित्य हमारे वर्तमान खड़ी बोली साहित्य की पुख्ता नींव का ज्ञान कराता है जिससे गुजरना नई पीढ़ी के लिए प्रेरणादायक होने के साथ उसे आगे ले जाने वाला भी है।

हरिऔध ग्रंथावली (सात खंड)/ संपादक—तरुण कुमार/ प्रकाशन संस्थान, 4268-बी/3, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, मूल्य : ₹ 7500

द्वारा रणविजय कुमार, नर्मदा-स्मृति, आजाद लेन, चौधरी टोला, पटना 800006, मो. 09631952649

ने प थ य

रचना का नेपथ्य

मधुरेश

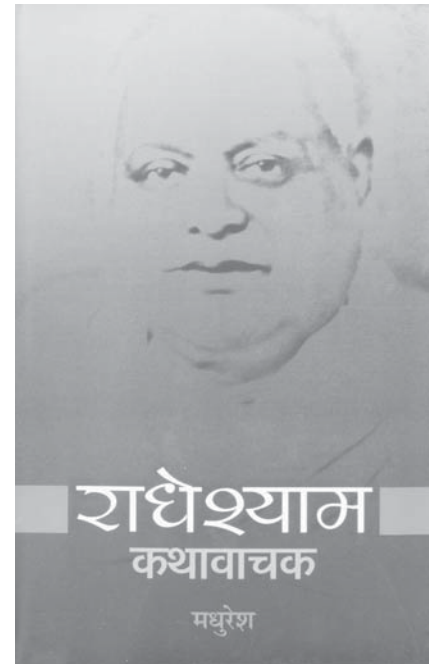
हिं

दी कहानी, उपन्यास और आलोचना के विकास संबंधी अपनी पुस्तकों की शृंखला में मुझ पर 'हिंदी नाटक और रंगमंच का विकास' लिखने का दबाव भी प्रकाशक मित्र की ओर से था। इसे मैंने इस तर्क से अस्वीकार कर दिया कि चूंकि नाटक मुख्यतः एक प्रदर्शनकारी कला है, मैंने कायदे से एक भी ढंग की साहित्यिक प्रस्तुति नहीं देखी है, फिर मैं नाटक और रंगमंच पर कैसे लिख सकता हूँ? बरेली में, अपने बचपन में, या तो मैंने रामलीला के लिए नगर में आई कंपनियों द्वारा गली-मुहल्ले में खेले जाने वाले कुछ नाटक देखे थे या फिर स्वांग और नौटंकी, जिनका उन दिनों खूब रिवाज था। वे देर रात में शुरू होते थे और सुबह दिन निकलने तक चलते थे। रात में नींद खुल जाने पर कहीं से आती नगाड़े की आवाज़ सुनकर मैं बाबा को जगाता था और फिर पृष्ठते-पृष्ठते, उस आवाज़ के सहारे, स्वांग तक पहुंच जाते थे। 'अमर सिंह राठौर', 'शंकर गढ़ संग्राम', 'पन्नाधाम', 'सुल्ताना डाकू' आदि नौटंकी मैंने इसी तरह देखी।

सन् 1955 में पृथ्वीराज कपूर अपना पृथ्वी थियेटर लेकर बरेली आए थे। मैं इंटर में पढ़ता था। उनके 'पठान', 'पैसा', 'दीवार' आदि नाटक तब हिंद टाकीज़ में हुए थे—सात-आठ दिन लगातार। शाम को एक शो होता था। उसका सबसे सस्ता टिकट भी एक पांच रुपये का था। औकात और बिसात से बाहर होने से चाहते हुए भी मैं कोई नाटक देख नहीं सका था। दिन में साईकिल लेकर हिंद टाकीज़ के आस-पास कई चक्कर लगाता था। जब-तब युनिट के कलाकार

बाज़ार में घूमते मिलते। एक दिन धनाढ्य दलित परिवार में, बाजे-गाजे के साथ, उस पूरे यूनिट को दोपहर के खाने पर भी जाते देखा था। कुर्ता-पैजामे में गले में भारी-सा हार डाले पृथ्वीराज सबसे आगे थे। इसी तरह एक दिन हिंद टाकीज़ की छत से झांककर मैंने उन्हें नीचे रिकशेवालों की आपसी लड़ाई देखते देखा था।

नौटंकी और रामलीला कंपनियों से अलग देखी गई दो-तीन और प्रस्तुतियों की याद भी मुझे है। कुंवर दयाशंकर इंटर कॉलेज में, हमारे ही मुहल्ले के पास शाह जी की बगिया वाली गली में रहने वाले एक सज्जन ने तब प्रसाद के नाटक 'स्कंदगुप्त' के कुछ अंश प्रस्तुत किए थे। उनका नाम पी.सी. बरुआ था— संभवतः इसी नाम के प्रसिद्ध असमिया-बंगला अभिनेता के अनुकरण पर। हल्के बसंती रंग के कुत्ते और सफ़ेद पैजामा



में कमर पर गुलाबी पटका बांधकर उन्होंने स्कंदगुप्त की भूमिका की थी। कानों में बड़े-बड़े कुंडल थे। संवादों की उनकी अदायगी नाटक के मूल पाठ पर ही आधारित थी। अब यह याद नहीं कि उसमें देवसेना की भूमिका किसी लड़की ने की थी या फिर वह कोई लड़का ही था। कुल मिलाकर उस आधे-अधूरे 'स्कंदगुप्त' ने भी मुझे गहरे में प्रभावित किया था—रोमांचित करने की हद तक।

इसी दौर में, शायद इसके कुछ और बाद, जब मैं बी.ए. में था, अपने बंगाली मित्र सुभाष चटर्जी के साथ मैंने दुर्गापूजा पर सिटी इंफ्रामेंट पार्क में चलने वाला बंगालियों का कार्यक्रम देखा। उसमें वे प्रतिवर्ष एक नाटक भी करते थे। एक साल 'सिराजुद्दौला' हुआ था और दूसरे साल द्विजेंद्र लाल राय का 'दुर्गादास'। तब जो थोड़ी-बहुत बंगाल सीखी थी उसके सहारे उन्हें समझने में कोई परेशानी नहीं हुई। 'दुर्गादास' मैंने हिंदी में पढ़ रखा था। दोनों ही नाटक बंगाली क्लब के युवकों ने किए थे और उनमें स्त्री-पात्रों की भूमिका भी लड़कों ने ही की थी। मंच पर पर्दे लगाकर नाटक किए गए थे, पारसी थियेटर वाली शैली में ही। वे वस्तुतः वैसे ही नाटक थे जो मैंने अपने मुहल्ले की रामलीला में देखे थे। अंतर बस यही था कि रामलीला वाले नाटक अधिकतर पौराणिक होते थे, ये ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर थे। रामलीला कंपनियों वाले, नाटकों में कुछ नाटक राधेश्याम कथावाचक के भी थे—'वीर अभिमन्यु', 'भक्त प्रह्लाद' आदि। बमनपुरी के ही हनुमान संकीर्तन मंडल द्वारा हनुमान जयंती के अवसर पर होने वाले नाटकों में भी एक-दो नाटक या तो राधेश्याम कथावाचक के ही थे या फिर उन्हीं के प्रेम से छपे 'चंद्रगुप्त' जैसे नाटक थे जिसे मैं असें तक पंडित जी का नाटक ही समझता रहा था। इन नाटकों में मुहल्ले के लड़के ही अभिनय करते थे और वे ही द्रौपदी, उत्तरा, हेलेन स्त्री-पात्रों की भूमिकाओं में भी उतरते थे। एक बार ऐसे ही किसी नाटक में द्रौपदी की भूमिका के लिए बाहर से एक युवक को लाए जाने की याद भी मुझे है जो अपने संवाद इतनी ऊंची आवाज़ में बोलता था कि नृसिंह मंदिर में होने वाले नाटक के

संवादों को मैं अपने घर से भी सुन सकता था।

वस्तुतः यही वह दौर था जब मैंने राधेश्याम कथावाचक को एक तरह से सम्मोहन जैसी अवस्था में पढ़ा। उनकी रामायण का एक बड़ा हिस्सा मुझे जुबानी याद था जिसके टुकड़े अब भी दोहरा सकता हूँ। उसी पिछले पाठ के आधार पर 'रामायण' के परवर्ती संस्करणों में किए गए परिवर्तन की निशानदेही मैं कर सका। हिंदुत्ववादी राजनीति के प्रभाव में उनके परिवारी जनों ने शायद यह काम किया। हिंदी पट्टी के नवजागरण कालीन हिंदुत्ववादी आग्रहों और इस सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के आग्रहों में एक आधारभूत अंतर है। इस कथित सांस्कृतिक राष्ट्रवाद ने आम भारतीय हिंदी के मत में धर्म, संस्कृति और परंपरा के प्रति नकार और विरोध का भाव जगाया है। जहां भी ज़रूरत पड़ी है, पंडित जी के हिंदुत्व और आज के इस सत्ताकामी सांप्रदायिक घृणा-प्रेरित हिंदुत्व के बुनियादी अंतर को समझने-समझाने का प्रयास मैंने किया है। पंडितजी कोरमकोर वैसे ही एक उदार हिंदू थे जैसे उस दौर के हिंदू होते या हो सकते थे। वे स्वाधीनता संग्रह के सक्रिय सेनानी भले न रहें हों, उस दौर के राष्ट्रीय नेताओं—मदन मोहन मालवीय, महात्मा गांधी, मोती लाल नेहरू आदि—से उनके प्रगाढ़ और आत्मीय संबंध थे। मालवीय जी से तो उन्होंने बाद में बाकायदा कंठी धारण करके दिशा ली थी। ऐसा व्यक्ति आज के सांप्रदायिक अर्थों में 'हिंदू' नहीं हो सकता।

उनके नाटकों और रामायण का सबसे बड़ा आकर्षण उनकी उर्दू बहुल भाषा और संवादों की शैली थी। उर्दू वे कैसी और कितनी जानते थे, इसका प्रमाण उन्होंने अपना नाटक 'मशरिकी हूर' लिखकर दिया। वे हिंदी के प्रबल समर्थक थे लेकिन उर्दू को सिर्फ मुसलमानों की भाषा मानने से इनकार करते थे। वे किसी क्रांतिकारी सोच के व्यक्ति नहीं थे। वैष्णव हिंदू संस्कारों में पले-बढ़े वे एक वैसे ही हिंदू थे जैसे हो सकते थे। इन संस्कारों के कारण ही रामायण और महाभारत उनकी घुड़ी का हिस्सा थे। उनकी रामायण और अधिकतर लटकों के प्रेरणास्रोत यही भारतीय महाकाव्य थे। वर्षों

कथावाचन के बाद वे नाटक के क्षेत्र में आए थे। पारसी थियेटर को लेकर भी कोई बहुत क्रांतिकारी कल्पना उनके मन में नहीं थी। वे उस अश्लीलता एवं भोंडेपन से बचाकर हिंदूधर्म के पौराणिक चरितनायकों के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव जगाना चाहते थे। इन चरित-नायकों के जीवन-प्रसंगों को स्वाधीनता के संघर्ष से जोड़कर उन्होंने पारसी थियेटर की प्रकृति को तो बदला ही, उसे मुख्यतः पुरुष दर्शकों के साथ स्त्री-दर्शकों के लिए भी संभव किया। पारिवारिक काम के बोझ और घर-गृहस्थी की नीरसता के बीच उनका कथा-वाचन और नाटक उनके लिए एक बड़ी राहत थे। सीता, राधा, रूक्मिणी, द्रौपदी, उषा आदि पौराणिक नायिकाएँ उनके यहां युगीन परिवेश में दिखाई देती हैं। हिंदू परिवार की मर्यादा की रक्षा करते हुए वे प्रेम की महत्ता का बखान करती हैं।

सन् 1980 में जब साहित्य अकादेमी के लिए देवकीनंदन खत्री पर मोनोग्राफ लिखा था, राधेश्याम कथावाचक पर भी वैसे ही एक मोनोग्राफ की इच्छा कुलबुलाई थी। लेकिन तब वह हुआ नहीं। बाद में किशारावस्था की अपनी स्मृतियों को संजोकर मैंने पंडित जी पर एक संस्मरण लिखा। वह एक स्थानीय पत्रिका में छपा। बाद में मैंने उसे संस्मरणों की अपनी पुस्तक 'यह जो आईना है' में शामिल किया। बरेली की पत्रिका 'निर्झरिणी' वाले संस्मरण को पढ़कर भीष्म साहनी ने मुझे लिखा कि उसे 'नटरंग' जैसी किसी अच्छी पत्रिका में देना चाहिए था। बाद में नेमिचंद्र जैन से इस प्रसंग में पत्राचार भी हुआ। अपने 5 जून, 1983 के पत्र में उन्होंने लिखा, इस बात से सचमुच बहुत दिलचस्पी हुई कि आपके परिवार का कथावाचक जी से संबंध रहा है और आप भी उनकी गतिविधियों से कुछ परिचित रहे हैं। आपका यह सुझाव दिलचस्प है कि भारतीय साहित्य के निर्माता की सीरीज़ में साहित्य अकादेमी को कथावाचक जी पर एक मोनोग्राफ निकालना चाहिए। पर एक हद तक वह साहित्य अकादेमी की परिधि में ठीक से नहीं आते। असल में इस तरह का काम संगीत नाटक अकादेमी को करना चाहिए। क्योंकि आप यह तो मानेंगे कि

कथावाचकजी की रचनाओं का महत्त्व इतना साहित्यिक नहीं है जितना कि रंगमंचीय। आप 'नटरंग' के लिए उनके नाटकों पर अगर कोई समीक्षात्मक टिप्पणी लिखें तो मैं अवश्य ही प्रकाशित करना चाहूँगा।'

राधेश्याम कथावाचक पर बरसों पहले लिखे गए अपने संस्मरण की फोटो प्रतिलिपि प्रयोग शुक्ल को भिजवाते हुए मैंने लिखा कि गुंजाइश होने पर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के लिए उन पर एक मोनोग्राफ लिखा जा सकता है। प्रयोग शुक्ल का उत्तर बहुत उत्साहवर्धक था। उस संस्मरण को न सिर्फ उन्होंने 'रंग-प्रसंग' के अगले अंक में, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय द्वारा पुनःप्रकाशित राधेश्याम कथावाचक की आत्मकथा 'मेरा नाटककाल' पर श्रीलाल शुक्ल की टिप्पणी के साथ, प्रकाशित किया, मुझे यह भी लिखा कि यदि मैं उन पर पुस्तक लिखूँ तो इससे अच्छी तो कोई बात होगी ही नहीं। मैं चाहूँ तो उनके इस पत्र को अनुबंध की तरह लेकर अपना काम शुरू कर सकता हूँ। उसके बाद फोन पर भी उनसे विस्तारपूर्वक बात हुई। लिखने का मन बनाने के बाद कम बस इसी रूप में शुरू हुआ कि मैंने सामग्री की खोज-बीन शुरू कर दी। प्रसाद मेरे प्रिय नाटककार थे। द्विजेंद्र लाल राय के नाटकों में नाथूराम 'प्रेमी' द्वारा प्रकाशित अनुवाद मैंने अपनी किशोरावस्था में पढ़े थे। प्रसाद के अनेक नाटकों सहित जगदीश चंद्र माथुर का 'पहला राजा' और मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' मैंने बरसों बी.ए. और एम.ए. में पढ़ाए थे। अपनी इस पूंजी को लेकर मुझे लगा कि यह काम हो सकता है। अंकुर जी ने आगा हसन कश्मीरी के चुनिंदा नाटकों के दोनों खंडों सहित और भी अनेक पुस्तकें भिजवाई—पर्याप्त उदारतापूर्वक। जिस तरह से पुस्तक लिखी जाती थी, उसका एक प्रारूप भी मैंने उन्हें ऐहतियातन भिजवाया ताकि उनकी ज़रूरतों और सुझावों को भी ध्यान में रखा जा सके। राधेश्याम कथावाचक के परिवारी-जनों और वारिसों से जैसे सहयोग की अपेक्षा थी, वह अलबत्ता नहीं मिला। धीमीगति से चलती सारी तैयारी के बावजूद पुस्तक टलती रही।

इस बीच ज्ञान रंजन से बात होने पर, कभी पहले की योजना के हिसाब से

तीन भारतीय ऐतिहासिक उपन्यासकारों पर निबंधों की शृंखला का दबाव 'पहल' के लिए बढ़ा। उन्होंने वैसा कोई संकेत मुझे नहीं दिया लेकिन लगता है कि 'पहल' को बंद करने का निर्णय वे ले चुके थे। मैंने जब उसे टालने को बाद के अंकों में उसे शुरू करने को कहा तो उनका आग्रह था कि अगले अंक में ही पहला निबंध जाना है। वह लेख बंकिमचंद्र पर था जो 'पहल'-87 में आया। यह बड़ा और मुश्किल काम था, जिसके लिए श्रम और समय दोनों ज़रूरी थे। उस शृंखला के दो अगले 'लेख कन्हैया लाल मुंशी और किशोरी लाल गोस्वामी पर 'पहल'-88 और 89 में छपे। ज्ञान की हड़बड़ी तब समझ में आई जब उन्होंने घोषणा की कि अंक-90 'पहल' का अंतिम अंक होगा।

जब किशोरीलाल गोस्वामी वाला लेख छपकर आया, एक दिन अंकुर जी का फोन मुझे मिला, 'मधुरेश जी इतने बड़े-बड़े लेख आप किसके लिए लिख रहे हैं?...इन्हें कौन पढ़ने वाला है?...और फिर थोड़ी निराशा भरे स्वर में वे बोले, 'हम आपसे राधेश्याम कथावाचक वाली किताब के लिए दस बरसों से कह रहे हैं...लेकिन आप कर ही नहीं रहे हैं...उनकी अतिरंजना और हताशा ने मुझे कहीं अंदर तक बेधा। फोन पर ही बात कुछ और बढ़ने पर मैंने उनसे पूछा कि वे पुस्तक कब तक चाहते हैं? इस बार उनकी आवाज़ से छलकता उत्साह साफ़ पढ़ा जा सकता था, 'तीन-चार महीने में आप दें दें...इसी वित्त-वर्ष में छप जाएगी..., फिर ऐसा ही हुआ।

जितना समय और श्रम 'पहल' वाले एक लेख में लगे, इस पूरी किताब में नहीं लगे। बस इस बीच कोई दूसरा काम एकदम बंद रहा। पुस्तक की मेरी रूपरेखा लौटाते हुए अंकुर जी ने लिखा—इसमें मुझे क्या देखना है। उनकी ओर से पूरी छूट थी। मैंने कोशिश की कि लिखी गई सामग्री को फ़ेयर करने का झंझट न रहे क्योंकि उसमें मूल लेखन से भी अधिक समय लगता है। पांडुलिपि में काट-पीट मुझे नापसंद है। अतः मैंने वैसा ही लिखा जो टाईपिस्ट द्वारा पढ़ा जा सके। बदायूं में ही अपने कवि-मित्र, स्व. अंचल वाजपेयी के पुत्र मयंक को मैंने यह काम सौंपा। व्यवस्था यह थी कि एक-एक

अध्याय मैं कूरियर से भिजवाऊंगा और वह टाइप करके इसी तरह लौटाता जाएगा। अमूमन मैं एक दिन में, सुबह एक घंटा बैठकर एक-डेढ़ पृष्ठ ही लिख पाता हूँ। उस दिन फिर लिखने के नाम पर और कुछ नहीं होता—पत्र भी नहीं। मूलतः सात अध्यायों वाली किताब को इस तरह लिखने में करीब तीन महीने लगे। अलग-अलग ढंग के राधेश्याम कथावाचक के जिन तीन नाटकों को मैंने विश्लेषण के लिए चुना था, पहले उन्हें एक ही अध्याय में रखा गया था। लेकिन तब वह अध्याय बहुत बड़ा हो रहा था—करीब चालीस पृष्ठों का। अतः उसे तीन स्वतंत्र अध्यायों में बांट दिया गया। उपसंहार के रूप में, कुछ तथ्यात्मक संशोधनों के बाद, अपने पूर्व लिखित संस्मरण को ही दिया जाना था।

टंकित पांडुलिपि अंकुर जी को भिजवाने के साथ उसके स्वतंत्र अध्याय मैंने 'रंग-प्रसंग', 'समकालीन भारतीय साहित्य', 'वागर्थ', 'अक्सर', 'संवेद', 'जनसत्ता', 'कादंबिनी', 'आजकल', 'शेष', 'परिकथा' आदि को भिजवाए। वे सब जगह छपे। देश-भर के पाठकों की उत्साहवर्धक प्रतिक्रियाएँ मुझे फोन पर या पत्र द्वारा मिलीं। मैं विस्मित था और काफी कुछ उत्तेजित भी। अंकुर जी का पत्र भी आया। पांडुलिपि उन्होंने संस्थान के ही किसी रंगकर्मी को पढ़ने को दी थी। एक-दो सामान्य सुझावों के बाद, मेरी बात ही मानते हुए, सचमुच पुस्तक उसी वित्त वर्ष में छपी। किताब ने जैसे मुझे डेढ़ इंच ऊपर उठा दिया हो—बिना पिए ही। तीस वर्षों तक दिल और दिमाग पर लिखी जाती रही किताब चार महीनों में ही कागज़ पर उतर आई थी। बहुत कृतज्ञतापूर्वक उसे मैंने नगर के ऋण-शोध के रूप में लिया और देखा। इसके बाद की सूचना यह है कि पहले शृंखला में 'हिंदी नाटक और रंगमंच का विकास' नामक जिस पुस्तक के लिए मैंने मना कर दिया था, उसके लिए सहमति जता दी है। नाटक और रंगमंच के प्रसंग में इस बीच जो पढ़ा और जाना है, उससे यह काम भी अब वैसा मुश्किल नहीं लगता।

372, छोटी बमनपुरी, बरेली (उ.प्र.)-243003 मो. 0931983809

विश्वग्राम में नंदीग्राम आख्यान

उपेन्द्र यादव

‘से

ज के अधिग्रहण के विरुद्ध की हवा सिंहकने से पहले ही उनका मंदिर से दिल टूट गया था और उन्होंने हमसे

एक दिन कहा था, ‘हमारे मंदिर के भगवान की सारी ताकत सरकारी देवताओं ने सीज कर ली हैं।’...धर्म, राजनीति और संग्राम के बीच से उनके दिमाग में कोई नया सूत्र तैयार हुआ था...। आदित्य बेरा ने संग्राम के लिए कविता रची, ‘कृषि बचाओ, कृषि बचाओ, जागो जवान, जागो किसान।’ बंगला में रचित कविता और संग्राम के लिए सरकार से जेहाद के ऐलान का पहला पर्चा आदित्य बेरा ने जारी किया था। पैसे को वे इंसानियत का शत्रु मानते थे। (भारत सरकार के गृहमंत्रालय ने पश्चिम बंगाल सरकार से पूछा है—भारतीय सेना के बहादुर सिपाही आदित्य बेरा कहां हैं? नवंबर 2008 के प्रथम सप्ताह तक पं.बंगाल पुलिस का जवाब है—लापता) नंदीग्राम डायरी।’

अति सुसंगठित राजनीतिक दल के कार्यकर्ताओं (सी.पी.आई.एम.कैडर) प्रदेश भर से जुटाए गए अपराधियों (सी.पी.आई.एम. नियंत्रित हरमाद वाहिनी), पुलिस और प्रशासन के इकट्ठे अभियान से नंदीग्राम को ‘बंदी ग्राम’ बना देने का फौलादी चक्रव्यूह तोड़कर किसान अगर विजयी हुए, तो कैसे? यह प्रश्न बंगाल से बाहर की मीडिया और उन बुद्धिजीवियों के लिए अनबूझ पहेली था, जिन्होंने नंदीग्राम को अपनी आंखों से नहीं देखा। ‘नंदीग्राम डायरी’ में आदित्य बेरा की यह दास्तान उनकी मदद कर सकती है। ‘जान देंगे, जमीन नहीं देंगे’ एक बीजमंत्र लिए जाने कितने आदित्य बेरा जिस संग्राम की नींव में ईंट बने उसने लगभग भूला दी जा चुकी जनता की अपराजेय शक्ति को समकालीन अनुभव संसार का हिस्सा बनाया जिसने क्रूर सत्ता को नाको चने चबवा दिए।

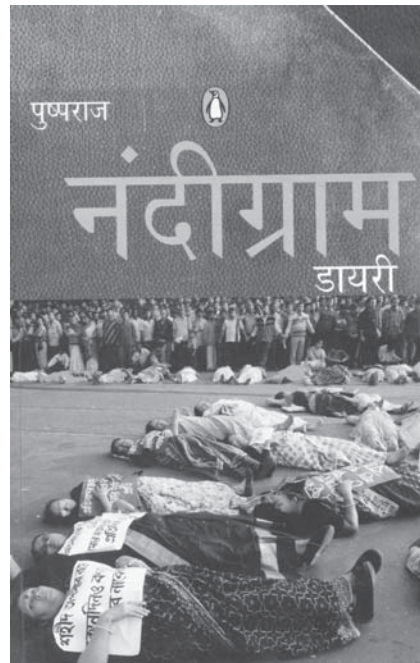
युवा लेखक और पत्रकार पुष्पराज की ‘नंदीग्राम डायरी’ हमारे समय के इसी ऐतिहासिक संग्राम की हिंदी में अकेली दस्तावेज है। यह बड़े जोखिम का कार्य था। डायरी में दर्ज नंदीग्राम की दमघोंटू स्थिति से इसका अंदाजा लगाया जा सकता है; “जागते रहो नंदीग्राम” की यह 100वीं रात हैं। अभी रात के 8 बज रहे हैं। गोकुल नगर के अधिकारी पाड़ा में हम बम के जोरदार धमाकों की गिनती कर रहे हैं। धमाके बढ़ते जा रहे हैं। और मनुष्य की जमात अलग-अलग टुकड़ों में दूर तक पसरी जा रही है। अचानक बम की आवाज बढ़ती है और गोलियाँ गाँवों की तरफ बरसने लगती हैं। ‘भूमि उच्छेद प्रतिरोध समिति’ के एक कृषक पहरेदार बम-गोली की हर जोरदार आवाज के खिलाफ नारों में जोश भरते हैं। बंग मीडिया का सरकार ने अपनी तरह से देखने का निर्देश दिया है। जिन्होंने अपनी आंखों का देखा सच

दिखाने-लिखने की कोशिश की उनकी क्या हालत है जानिए नंदीग्राम रिपोर्टिंग के स्टार पत्रकार सुकुमार मित्र से...।”

सत्ताधारी पार्टी के एक नेता के नंदीग्रामवासियों के खिलाफ ‘लाइफ हेल कोरे देबो (जीवन नर्क बना देंगे)’ के ऐलान के बाद नंदीग्राम में बर्बरता से कल्ल किए गए किसानों, सामूहिक बलात्कार की शिकार स्त्रियों, आहत स्त्री, बच्चे और पुरुषों के बीच खड़ा ‘नंदीग्राम डायरी’ का लेखक संग्राम का पक्षधर हैं।

सेज परियोजना के लिए पश्चिम बंगाल सरकार ने पूर्वी मिदनापुर जिले में नंदीग्राम की 19 हजार एकड़ कृषि योग्य जमीन पर इंडोनेशिया के सालेम ग्रुप द्वारा रासायनिक संयंत्र की स्थापना के लिए अधिग्रहण आरंभ किया। माकपा सांसद लक्ष्मण सेठ के नेतृत्व में कब्जे की घोषणा कर दी गई। लोगों में विरोध की हवा सुगबुगा रही थी। लेकिन नंदीग्राम समेत पूरे जिले के चप्पे-चप्पे पर अपनी पार्टी का एकाधिपत्य कायम किए नेताओं को इस विरोध की गहराई का कतई आभास नहीं था। जनता के विरोधी प्रदर्शन पर 14 मार्च 2007 को पुलिस ने गोलियां बरसाईं। 14 लोग मारे गए। पूरे प्रांत में सनसनी दौड़ गई। बुद्धिजीवियों में से इसे ‘सरकार द्वारा खेतिहर भारत के खिलाफ युद्ध घोषणा’ की संज्ञा दी गई। सत्ता किसानों के दमन में जितनी ही क्रूरतापूर्ण रुख अपनाती गई नंदीग्रामवासी उतनी ही एकताबद्ध फैलादी शक्ति अख्तियार करते गए। आंदोलन की आंधी पूरे साल उमड़ती-धुमड़ती रही। ‘नंदीग्राम डायरी’ में 14 मार्च 2007 से 10 मार्च 2008 तक की घटनाएँ हैं।

भूमंडलीकरण के दौर में सेज और जमीन अधिग्रहण देशभर में ही शुरू हुआ था। इस अभियान में केंद्र और राज्य सरकार की इकट्ठी



ताकत को असली चुनौती नंदीग्राम ही कैसे दे पाया और कैसे उन्हें घुटने टेकने पर मजबूर कर दिया इसकी मुकम्मल समझ 'डायरी' से गुजरे बिना संभव नहीं है। लेखक ने संग्राम के चतुर्दिक घूम रही घटनाओं और विभिन्न वर्गों की भूमिका के बारीक मुआयने की भरसक कोशिश की है। डायरी की सबसे बड़ी उपलब्धि उस सार्वजनिक वातावरण का चित्र खींचने में इसकी कामयाबी है जो नंदीग्राम की केन्द्रीय ध्रुव के इर्द-गिर्द प्रदेश में तैयार हुआ और सरकार-विरोधी जनता की आम मानसिकता का अंग बन गया। नंदीग्राम की जनता में प्रतिरोध की यह शक्ति कहां से आई इसका जवाब ढूंढते हुए लेखक ने नंदीग्राम और मिदनापुर जिले के अतीत के झरोखों को टटोलते हुए स्वाधीनता आंदोलन में इस जिले की अविस्मरणीय भूमिका का अनुसंधान किया है।

डायरी में बताया गया है नंदीग्राम से पहले बंगाल में सी.पी.आई. (एम.) का अर्थ क्या था और कैसे पार्टी का सुनियोजित तंत्र लोगों के निजी जीवन तक को नियंत्रित करता था। पार्टी की खिलाफत का अर्थ रोजी रोजगार से लेकर हर प्रकार की मुसीबतों का पहाड़ टूट पड़ना था। पार्टी की कार्यप्रणाली में वामपंथी आदर्शों की कन्न खोद दी गई थी। प्रदेश में लोकतंत्र को मरणासन्न बना दिया गया था। इस पहलू की सम्यक् समझ के बिना यह जान पाना असंभव है कि क्यों नंदीग्राम से उपजे किसान आंदोलन ने प्रदेशव्यापी जनांदोलन का आकार ले लिया। 'नंदीग्राम डायरी' के धरातल पर प्रशासन के घोर दुरुपयोग, मीडिया पर सरकारी नियंत्रण, सरकार और सी.पी.एम. के हिटलरी प्रचारतंत्र का स्वरूप, प्रतिरोध में मुखर बुद्धिजीवियों का उत्पीड़न और गिरफ्तारी, अधिग्रहण के नायकों द्वारा अश्लील भाषा का इस्तेमाल, दमन का क्रूर चेहरा, जनसंहार, सामूहिक बलात्कार, केंद्र सरकार की निष्क्रियता, सरकार द्वारा मानवाधिकारों का बेपरवाह उल्लंघन, बहुराष्ट्रीय मीडिया का नपुंसक चेहरा, न्यायोचित जनांदोलन के नए प्रतिमान जैसे विषय तैरते-उतरते दिखते हैं।

“10 नवंबर को 20 हजार से ज्यादा निहत्थे लोगों को हमने तेखाली से नारे लगाते हुए आगे बढ़ते हुए देखा। शांति मिसिल नंदीग्राम से महेशपुर की तरफ बढ़ रहा था। महेशपुर के बाद समसाबाद चौक के पास अचानक गोली चलने लगी। चारों तरफ से

मिसिल घिर चुक था। शांति मिसिल 5 मिनट के लिए ठहर गया। फिर गोलाबारी रुकी। मिसिल तेजी से आगे बढ़ा। मिसिल समसाबाद में बिखर गया था। दो तरफ से मिसिल आया था और गोलियाँ चारों तरफ से चल रही थीं। एक मिसिल सोनाचूड़ा की पीठ पर खड़ा था। अचानक गोलियाँ बरसने लगीं तो लोग मरने लगे। सब जान बचाने के लिए जिधर-तिधर उल्टी दिशाओं में भागने लगे। हमारे सामने सांवली मन्ना और एक युवक की मौत हुई। बहुत सारे लोग जो जान बचाने पैदल नंदीग्राम की तरफ लौटे, मैं भी उसी भागती भीड़ में शामिल हो गया। हमने माथे पर लाल पताका बांधे हुए 150 के करीब हरमातों को स्टेनगन और एस.एल.आर से हमला करते हुए देखा था। हम आधे घंटे बाद दौड़ते-कांपते नंदीग्राम अस्पताल पहुंचे तो 20 घायल और 2 लाशें भी अस्पताल में थीं। हम अभी भी वह दृश्य देख ही रहे हैं—हजारों लोगों का मिसिल खेतों में बिखर गया है। अपनी-अपनी जान बचाने कोई पेड़ पर, कोई पोखर के पानी में, कोई हमारी तरफ उल्टे पांव भाग रहा है। हमने पहली बार आग लगे जंगल में प्राण बचाने के लिए भागते बंदरों की तरह मनुष्यों का दृश्य देखा...। हमारे पीछे देर से जो लोग आए उन्होंने बताया कि शांति मिसिल से कई सौ लोगों को हरमात जबरन खेजूरी की तरफ ले गए।” नंदीग्राम डायरी, पृ...।

नंदीग्राम की जनता ने बंगाल के शहरी मध्य वर्ग, बुद्धिजीवी, लेखक, कवि, संस्कृतिकर्मी और साधारण जनों को एक मुहाने पर लाकर खड़ा कर दिया जहां उन्हें एक पक्ष चुन लेना था। सत्ता का अलोकतांत्रिक क्रूरतापूर्ण दमनचक्र और उसके विरुद्ध आहत नंदीग्रामवासियों के प्रतिरोध कल लपटें; लोगों को प्रतिरोध के पक्ष में खड़ा होना पड़ा। जलते नंदीग्राम के साथ पूरे बंगाल की जनता सुलग उठी थी। पर्वतीय क्षेत्र दार्जिलिंग से लेकर तटीय सुंदरवन तक नंदीग्राम के मुद्दे पर प्रदर्शन, अवरोध, हड़ताल साल भर चलते रहे। तीन दशक के लंबे कालखंड के दौरान बड़े ही सुनियोजित रीत से फासिस्ट शक्त अपना चुकी सत्ता ने बंगाल के जिस विवेक को लगभग मृतशय्या पर पहुंचा दिया था उसकी रूह में हरकत पैदा हो रही थी। वामपंथी आदर्शों से प्रेरित जो तबका माकपा के साथ बना रहा था वह सन्निपात की दशा में था। 'करार टूट रहे थे', प्रतिरोधी

जनसैलाब के रेले में 'नए द्वीप आकार ले रहे थे'। कवि तरुण सान्याल, लेखिका महाश्वेता देवी, नाट्यकार विभास चक्रवर्ती, सांवली मित्र, कौशिक सेन, ब्राह्म्य वसू, फिल्मकार अपर्णा सेन, गायब कबीर सुमन सेमत बंगाल का विवेक माने जाने वाले बुद्धिजीवी और संस्कृतिकर्मियों ने 'फोरम ऑफ आर्टिस्ट एंड कल्चरल एक्टिविस्ट' का गठन कर सत्ताविरोधी आंदोलन को भरोसामंद नेतृत्व प्रदान करते हुए जनसमुदाय की अंतरात्मा पर जमी राख को साफ कर उसे चमकाया। जनमानस में इस गहन आत्म-मंथन ने बंगाल के तीन दशकों के इतिहास के पहिए को मोड़ दिया। लोग जगह-जगह सत्ता और सत्ताधारी पार्टी के आतंक के खिलाफ स्वतःस्फूर्त ढंग से गोलबंद होते दिख जाते। इसने विभिन्न राजनीतिक दलों को एक मंच पर लाकर खड़ा कर दिया— 'आज 16 मार्च तक तृणमूल कांग्रेस, कांग्रेस, भाजपा, एस यू सी आई रक्तपात के प्रतिरोध में सड़क पर हैं। नंदीग्राम के प्रतिवाद के प्रतिपक्ष ने पं. बंगाल बंद का ऐलान किया है। सड़कें सूनी हैं, दुकानें बंद हैं। कोलकाता को ढंग से देखने-जानने वाले बता रहे हैं कि पहली बार तीस सालों के शासनकाल में सरकार की इच्छा के विरुद्ध स्वतः स्फूर्त सफल बंदी हुई है। हम देख रहे हैं यह राजनीतिक बंदी कम, जनबंदी ज्यादा है।...सड़क पर एस यू सी आई और भाकपा (माले) के क्रांतिकारी कार्यकर्ता सी पी एम के वफादार कैडरो और सरकारी पुलिस से लड़-भिड़ रहे हैं। एस यू सी आई कार्यकर्ताओं को पुलिस की मार झेलनी पड़ी है। लाल झंडा लाल झंडे से टकरा रहा है। सरकार के हाथ में लाल, जनता के हाथ में लाल, असली कौन है?’

भूमंडलीकरण के दौर में बाजार संकट से उत्पन्न स्थितियों पारंपरिक स्वरूप से अलग उद्योग के नए स्वरूप अख्तियार करने, देश की सार्वजनिक संपदा पर निजी कब्जे के प्रारंभ की देन था—नंदीग्राम। इस प्रक्रिया पर पुस्तक अंततः सरकार के बताए विकास के मॉडल की आलोचना तक सीमित है। डायरी के कालखंड की छोटी-बड़ी घटनाओं को छोड़ दें तो हरमादों के आक्रमणों के दौरान घटनाओं का ब्यौरा उन दिनों के बंगला दैनिकों 'दि स्टेट्समैन' और 'प्रतिदिन' के अखबारी ब्यौरों सा है। इस दिशा में लेखक से और गंभीर7 प्रयास की आशा थी। संग्राम में शामिल दोनों

पक्षों द्वारा जारी पर्चे और भाषणों के अंश का उपयोग, राहत शिविरों और तमलूक अस्पताल के डॉक्टरों, पुलिस अधिकारियों के साक्षात्कार पुस्तक को और समृद्ध बना सकते थे। इन सीमाओं के बावजूद पुस्तक को महत्वपूर्ण बनाने में सर्वाधिक योग उस सबक का है जो किसान-संघर्ष के बीच से गुजरते लेखक ने अर्जित की है। भूमंडलीकरण जब लोकतंत्र के कथित चौथे स्तंभ अखबार और मीडिया को लोकहितों की ओर से नपुंसक बनाकर उपभोक्तावादी मूल्यों के सबसे बड़े प्रचारतंत्र में विकसित कर चुका है और पत्रकारिता के आदर्शों का कल्ल कर रहा है तो जनसंघर्ष के बीचों बीच खड़ा लेखक दर्ज करता है, 'भारतीय पत्रकारिता को अगर एक सही राह चाहिए तो लीक नंदीग्राम से शुरू होती है। गौरांगो (एक बंगला न्यूज चैनल का पत्रकार) के टूटे हाथ, टूटे कैमरे और सुकुमार मित्र (बंगला दैनिक का पत्रकार) की बेचैन आंखों व आग उगलती कलम से शुरू होती है जन पत्रकारिता।'

'नंदीग्राम डायरी' पढ़ते हुए प्रेमचंद के रंगभूमि और कर्मभूमि की यादें ताजा हो उठती हैं, हालांकि नंदीग्राम डायरी की विषयवस्तु वास्तविक घटना है और इसका धरातल बहुआयामी जटिलताओं वाला है। यह भूमंडलीकरण के दौर में किसान संघर्ष की गाथा है जिसकी परिणति प्रदेशव्यापी जनसंघर्ष में हुई। इसलिए जहां यह जनवादी हितों वाले आंदोलनों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, वहीं एक दस्तावेज भी है जो ऐतिहासिक जनकारवाई में विभिन्न वर्गों की भूमिका की समझ देती है।

नंदीग्राम ने बंगाल के बौद्धिक पटल पर जो तूफान उठाया था वह हिंदी में गायब था। नंदीग्राम अगर किसी हिंदी प्रदेश में होता तो भी क्या हिंदी के बुद्धिजीवी लेखक वैसी ही चुप्पी अख्तियार किए रह जाते, इसका मलाल लेखक को है। इस दिशा में डायरी लेखक हिंदी की उस परंपरा से साझा करता है जिसके अंतर्गत मुक्तिबोध और नागार्जुन पहचाने जाते हैं।

नंदीग्राम डायरी/पुष्पराज/पेंगुइन इंडिया बुक्स, 11, कम्युनिटी सेंटर, पंचशील पार्क, नई दिल्ली-110017, मूल्य : ₹ 250

OS150/C नारकेल डांगा रेलवे क्वार्टर, कोलकाता-11, मो. 09830919665

वि वि ध तीसरी आंख का सच

सुनील कुमार यादव

‘स

मय समाज और संस्कृति' और 'हिंदी पट्टी : पतन की पड़ताल' के बाद 'शब्द और सत्याग्रह' प्रेमपाल शर्मा के निबंधों का नवीनतम संग्रह है। ये निबंध जनसत्ता अखबार के 'दुनिया मेरे आगे' कालम में आते रहे हैं। जनसत्ता जैसा अखबार जिसने सांस्कृतिक एवं वैचारिक बहसों को एक आयाम दिया। यह हिंदी पत्रकारिता में मील का पत्थर है। 'दुनिया मेरे आगे' कालम को पढ़ते हुए प्रेमपाल शर्मा के 'शब्द और सत्याग्रह' के बीच देश दुनिया में हर रोज़ घटती घटनाओं और विचारों से मनुष्य को झकझोर देने वाली ताकत को पहचाना जा सकता है।

इस कालम के निबंधों को पढ़ते हुए मुझे कवि नागार्जुन याद आ रहे थे। जनवादी चेतना से युक्त लोक के मर्म के आखिरी पड़ाव तक नागार्जुन की दृष्टि जाती है। नागार्जुन 'खुरदरे पैर' कविता लिखते हुए लिखते हैं—
धंस गए/कुसुम-कोमल मन में/गुड्डल
घड्डलोंवाले कुलिश-कठोर पैर दे रहे थे
गति/रबड़-विहीन टूट पैडलों को

(सतरंगे पंखों वाली, पृ. 23)

फटी बिवाइयों से युक्त पैर, रबड़-विहीन टूट पैडलों को नागार्जुन जैसा दृष्टि से युक्त कवि ही देख सकता है। प्रेमपाल शर्मा के पास कुछ इसी प्रकार की दृष्टि है जिसका विस्तार समाज, राजनीति, संस्कृति से होते हुए शोषित दमित जनता तक है। 'कामवाली की हंसी', 'रानी की नौकरानी', 'अमीरी की बदबू', 'कंकाल प्रदेश' असमानता 'की हिंसा' इत्यादि लेख उनकी इसी दृष्टि का पुनर्आख्यान करते हैं। कामवाली "कौन-सी जड़ी बूटी खाती है जो इतनी देर तक चलती रहती है। फ्रिज में लाख चीजें रखी हों। कभी झूठ को भी उधर नहीं देखती है।" (पृ. 11) रानी की नौकरानी से "मन तो

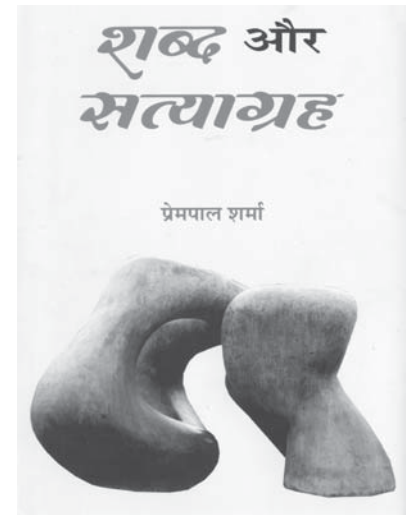
होता है आगे बढ़कर नाम ग्राम पूछूं पर एक तो बालिकाएँ और दूसरे फेयर एंड लवली रंगी-पुती मोरी मालकिनी के हाव-भाव के चलते ये काम दिल्ली जैसे महानगर में कम जोखिम भरा नहीं है।" (पृ. 14)

'असमानता की हिंसा' में वे महानगरों में बनने वाली इमारतों में काम करने वाले मजदूरों के माध्यम से असमानता तथा धर्म के पाखंड पर सवाल खड़ा करते हैं "जब इमारत का जर्जा-जर्जा उनके श्रम से खड़ा किया गया है तो यदि आपातकाल में वे उसी टॉयलट में चले जाएँगे तो कौन-सी लक्ष्मण-रेखा का उल्लंघन हो जाएगा।" (पृ. 210) ये प्रेमपाल शर्मा की आंखें हैं, जो जमीनी हकीकत की नब्ज को टटोलती हैं। उनके निबंधों में वही बेचैनी है जो मुक्तिबोध के यहां थी—

समस्या एक—मेरे सभ्य नगरों और
ग्रामों में/सभी मानव/सुखी, सुंदर व
शोषण-मुक्त/कब होंगे?

(मुक्तिबोध रचनावली-2, पृ. 243)

'शब्द और सत्याग्रह', 'हिंदी का कुआँ', 'हिंदी के पुरस्कार', 'हिंदी का भविष्य', 'अंग्रेजी



बोलते भांड', 'आई.आई.सी. में हिंदी' 'समझ का माध्यम' इत्यादि निबंध उनके हिंदी को लेकर चिंताओं तथा सरोकारों से जुड़े हैं। हिंदी के लिए गांधी की दृढ़ प्रतिज्ञता को बताते हुए शर्मा जी लिखते हैं—कि गांधी जी की एक-एक शब्द के प्रति निष्ठा मेहनत तथा तलाश के कारण ही 'विरोध' के लिए प्रयुक्त अंग्रेजी शब्द 'पैसिव रेसिसटेंस' जैसे 'क्रियाहीन' शब्द के जगह 'सत्याग्रह' नाम स्वीकृत हुआ। आज के पत्रकारों एवं बुद्धिजीवी लोगों का हाल है कि "जिस बात के लिए हिंदी में दर्जनों शब्द उपलब्ध हैं तब भी वे अंग्रेजी के शब्दों को हिंदी वाक्यों में घुसेड़ देते हैं बोलचाल में भी और लिखित आलेखों में भी।" (पृ. 23)

हिंदी की रोटी खाने वाले पत्रकारों, प्रोफेसरो, साहित्यकारों के बेटे-बेटियों आज हिंदी नहीं पढ़ती "पूरे साल सिसकियाँ और सितंबर में ज़ार-ज़ार से रोने-कराहने वाले मैंने हिंदी के लेखकों से पूछा—क्या तुम्हारे बच्चे हिंदी पढ़ते हैं?" मानो सौ किलोमीटर की रफ्तार से चलती कार में ब्रेक लग गया हो।" (पृ. 102)

हिंदी के भविष्य के सबसे बड़े चिंतकों का यही हाल है और हिंदी की सबसे बड़ी बदनसीबी भी। हिंदी आज शहर के कान्चेंट स्कूलों से गायब हो रही है। अभी तक तो हाल यह था कि दसवीं तक हिंदी पढ़ाई भी जाती थी। पर "जो पीढ़ी छठी में ही अपनी भाषा छोड़ देगी या जिसे पहली क्लास में ही छोड़ने के लिए बाध्य किया जा रहा है, उसे क्या तो भाषा की समझ होगी और क्या उस देश, उसके परिवेश, संस्कृति की।" (पृ. 202)

'अंग्रेजी बोलते भांड' निबंध हिंदी को लेकर हीनताबोध से ग्रस्त उन भारतीय लोगों की शिनाख्त है जो अंग्रेजी में अपनी पब्लिसिटी का आतंक एवं स्टैंडर्ड देखते हैं। "थर्ड से थर्ड ग्रेड फिल्मों या चालू टी.वी. सीरियल तक में काम करने वाले नवजात...सहज हिंदी में पूछे गए प्रश्नों का जवाब अंग्रेजी में मिमियाने लगते हैं।" "अफसोस की बात यह कि इनमें से अधिकांश हिंदी पढ़ी के हैं।" (पृ. 172)

प्रेमपाल शर्मा की हिंदी संबंधी यह चिंता आक्रोश का रूप तब ले लेती है जब वे 'आई.आई.सी. में हिंदी' निबंध लिखते हैं "कुछ 'स्तरीय' गोष्ठियाँ केवल आई.आई.सी. के भीतरी-बाहरी टेरेस पर ही होती हैं। इनमें से ज्यादातर वे हैं जो 'शाइनिंग इंडिया' से नफरत करते हैं और जनवाद की छतरी के नीचे

खड़े हैं। अफसोस की इन्होंने कभी यह झांककर नहीं देखा कि पुस्तकालय इतना हिंदी विरोधी क्यों है कि वहां न प्रेमचंद है, न निराला, न अज्ञेय, न दूसरे बड़े लेखक।" (पृ. 184-185) फिर यह भी याद दिला दें कि आई.आई.सी. दिल्ली में है और हिंदी क्षेत्र में आता है।

हिंदी के पुरस्कारों की सांठ-गांठ गुणागणित, खेमेबाजी के लिए आज किसी विशेष चश्मे की जरूरत नहीं है। खुलेआम देख सकते हैं। पैसो से ले भी सकते हैं "उन्हें इस बात को कहने में कतई संकोच नहीं था (हे)। "मुझे पुरस्कार दिलवा दो पैसा सारा आपको।...अघोषित रूप से हिंदी में पुरस्कार नाम का एक एन.जी.ओ.। चयन समिति का अध्यक्ष बनना मलाईदार थाने का इंचार्ज बनना है।" (पृ. 88-89) अगर ऐसा नहीं होता तो ज्यों पॉल सार्त्र पुरस्कार को 'आलू का बोरा कहकर ठुकरा नहीं देता। मुक्तिबोध को कोई पुरस्कार मिल गया होता।

हिंदी साहित्यकारों की दुर्गति तथा उपेक्षा आज जगजाहिर है। जिन साहित्यकारों ने साधक की तरह जीवन को साहित्य का लक्ष्य बनाकर अपने को उसी में समर्पित कर दिया। वैसे साहित्यकारों की उपेक्षा तथा तिरस्कार के दर्द को उनकी आंखों में महसूस किया जा सकता है। मशहूर कथाकार अमरकांत की आंखों में छलछलाते आंसुओं के बीच जिस उपेक्षा एवं तिरस्कार के दर्द को मैंने पाया उस दर्द को शब्दों में नहीं ढाला जा सकता। हिंदी में सत्ता से सांठ-गांठ भिड़ाए हुए साहित्यकारों मठ या गढ़ स्थापित किए हुए नामवरीय आलोचकों तथा साहित्य के नाम पर कूड़ा-करकट परोसते चरण-पूजन संस्कृति के विकास के पुरोधा तथाकथित प्रोफेसरों से उनकी तुलना नहीं की जा सकती। विष्णु प्रभाकर एवं प्रभाष जोशी पर लिखा गया निबंध इस किताब की उपलब्धि है। विष्णु प्रभाकर पर लिखते हुए शर्मा जी लिखते हैं "छियानवी वर्षीय हिंदी का प्रसिद्ध लेखक बिस्तर पर है लेकिन इसकी न कोई खबर लेता है न देता है। वह मीडिया जो ऐश्वर्या राय के पेट और चाल की कई कोणीय विडियो बनाकर एक्सक्लूसिव, खास खबर की दौड़ में रहता है वह तो बिल्कुल नहीं।...उसे क्या अपनी टी.आर.पी. घटानी है।" (पृ. 193)

प्रभाष जोशी के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों पर बेहतरीन ढंग से लिखा है प्रेमपाल शर्मा ने प्रभाष जोशी की ताकत को बताते हुए

लिखते हैं "राजनीतिक, इतिहास, समाज, शिक्षा की मुख्य धारा का ऐसा प्रखर पत्रकार कैसे कुमार गंधर्व, कबीर और क्रिकेट को एक साथ साथ लेता था।" (पृ. 216)

"डिग्री का प्रोजेक्ट" तथा "पढ़ाई की दूकानें" नामक निबंधों में शिक्षा के बाजारीकरण का सवाल उठाते हैं, तो 'मंडे टेस्ट' तथा 'झूठ की शिक्षा' में बच्चों के बेहतर इंसान बनाने की अपेक्षा मशीन बना देने की वर्तमान शिक्षा प्रणाली पर चिंता व्यक्त करते हैं। लड़कों को विज्ञान तथा लड़कियों को कला विषयों की पढ़ाई के लिए दबाव बनाने वाले मां-बाप के चरित्र को वे 'पापा के कहने पर' निबंध में व्यक्त करते हैं। इस भेदभाव के जिम्मेदार लोगों से वे कहते हैं "सारे पापाओं! ध्यान से सुन रहे हो न! देश आज जिस दुर्गति में है उसमें आपका योगदान सबसे ज्यादा है।" (पृ. 22)

'उजड़े हुए लोग', 'उत्तरप्रदेश कुछ प्रश्न', 'लोक सेवा की जिद', 'अमीरी की बदबू', 'चिंता में' इत्यादि निबंध अमीरी की वास्तविकता राजनीतिक व्यवस्था एवं गरीबी की जहालत तक जूझती जनता की कहानी कहता है। 'आचरण की फांक' मनुष्य के कहने और करने के बीच के अंतर को दिखता है तो आज की भ्रष्ट व्यवस्था में नौकरियों की धांधली के बीच गरीब-से-गरीब छात्रों के सपनों को सच करने के लिए एक ही संस्थान बचा है 'संघ लोक सेवा आयोग'। "देश भर में विश्वविद्यालयों, कॉलेजों में नियुक्तियों की चर्चा सुनते ही दिल-दहलने लगता है कि यदि "शाजहां रोड" का यह भवन नहीं होता तो तेरा क्या होता कालिया।" (पृ. 92)

मनुष्य की संवेदनाओं तथा भावनाओं के नष्ट होने की चिंता 'मोबाईल के कष्ट' और 'चिट्ठी क इंतजार' में व्यक्त होता है। जातिवाद के जहर के फैलने तथा इसको फैलाने में राजनीतिज्ञों के साथ बुद्धिजीवियों की भूमिका को वे स्पष्ट करते हैं। 'जाति का जहर' और 'लेखक की जाति' में। राजेंद्र यादव के माध्यम से उनकी चिंता जातिवाद के खतरनाक इरादों को खोलती है।

इस किताब में कहीं इलाहाबाद एवं नालंदा जैसी विरासतों के नष्ट होने का दर्द है तो पांडिचेरी के बहाने हिंदी पढ़ी की कुछ शिकायतें। लेकिन इस क्रम में लेखक हिंदी पर जो आरोप लगाता है। उससे सहमत नहीं हुआ जा सकता। हिंदी पढ़ी की दुर्दशा के लिए

जिम्मेदार कौन है? हिंदी पट्टी द्वारा पैदा किए गए बड़े-बड़े राजनेता आप जैसे नौकरशाह इस भाषा तथा बोली की रोटी खाने वाले अभिनेता। आप किसी की सुनी बात लिखते हैं कि “अच्छा हुआ हिंदी सारे देश में नहीं गई, वरना इसके साथ गुंडई भी जरूर जाती और यह देश का दुर्भाग्य होता।” (पृ.130) आपको पता होना चाहिए हिंदी गुंडई की भाषा नहीं है हिंदी मेहनत और कर्म की भाषा है। जज्बात और सच्चाई की भाषा है। देश के सुरक्षा में लगे 50% से ज्यादा सैनिक यही हिंदी पट्टी देता है। शर्मा जी जब स्थितियाँ ऐसी पैदा की जाएँगी जनता भूख से चिल्लाएगी तो प्रेमचंद की ‘कफन’ कहानी सच होगी ही। रोजगार का दूर तक नामो-निशां नहीं जनसंख्या विस्फोट जारी है। आपको पता होगा कि बंगाल से जिस नवजागरण की शुरुआत होती है। वह हिंदी पट्टी में विरोधों के चलते धीमा पड़ गया था। ‘तदीय समाज’ के द्वारा जो विरोध भारतेंदु ने किया था वह ध्यान देने योग्य है। हिंदी पट्टी को उसके पूरे ऐतिहासिक, सामाजिक तथा राजनैतिक कारणों के आलोक में देखना होगा। तब उसके पिछड़ेपन तक वास्तविक रूप से पहुंचा जा सकता है।

इस प्रकार ‘शब्द और सत्याग्रह’ से गुजरते हुए मुझे मुक्तिबोध की कविताएँ बार-बार याद आती हैं। उनकी कविताओं के बारे में कहा गया कि वे स्वतंत्र भारत की इस्पाती दास्तावेज हैं। जिस प्रकार से शोषण, सत्ता का धिनौना चरित्र, नौकरशाही का खोखलापन, बेरोजगारी का आलम तथा मध्यवर्ग वर्ग के दुलमुल चरित्र की दास्तान फैंटेसियों के माध्यम से उनकी कविताएँ कहती हैं। उसी तरह से ये निबंध स्वतंत्र भारत में, शिक्षा, रोजगार की समस्या, घूसखोरी, हिंदी तथा उसकी समस्या, हिंदी साहित्यकारों की दुर्गति, हिंदी पट्टी के पिछड़ेपन, निम्नवर्ग की जी-जोड़ मेहनत से होते हुए हिंदुस्तान की तमाम छोटी-बड़ी घटनाओं की शिनाख्त करते हैं। इसमें लेखक की दृष्टि एक प्रेक्षक की तरह है जिससे अमानवीयता एवं भ्रष्टाचार जैसी कोई भी बात छुप नहीं सकती।

शब्द और सत्याग्रह, प्रेमपाल शर्मा, मेधा बुक्स, एक्स-11, शाहदरा, दिल्ली-110032, मूल्य : ₹ 250

शोधछात्र, साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अं.हिं. विश्वविद्यालय वर्धा

फकीरों में नव्वाब, गिरहकट, अघोरी साधक : भुवनेश्वर

भारत यायावर

पि

छले दिनों मई, 1937 में प्रकाशित और बाबुराव विष्णु पराड़कर के द्वारा संपादित ‘हंस’ का प्रेमचंद-स्मृति-अंक’ पढ़ रहा था। इसमें प्रेमचंद पर अनेक संस्मरण हैं, किंतु जैनेन्द्र कुमार का संस्मरण सबसे लंबा और दिलचस्प है—‘प्रेमचंद : मैंने क्या जाना और पाया’। इस संस्मरण में एक जगह जैनेन्द्र ने लिखा है : “प्रेमचंद जी ने एक बड़ी दिलचस्प आपबीती सुनाई। एक निरंकुश युवक ने किस प्रकार उन्हें ठगा और किस सहज भाव से वह उसकी ठगाई में आते रहे, इसका वृत्तान्त बहुत ही मनोहर है। पहले-पहल तो मुझे सुनकर अचरज हुआ कि मानव प्रकृति के भेदों को इतनी सूक्ष्मता से जानने और दिखाने वाला व्यक्ति ऐसा अजब धोखा कैसे खा गया। लेकिन मैंने देखा कि जो उनके भीतर कोमल है, वही कमजोर है। उसे छूकर आसानी से उन्हें ऐंठा जा सकता है। उनकी उसी रग को पकड़कर उस चालाक युवक ने प्रेमचंदजी को ऐसा मूंडा कि कहने की बात नहीं। सीधे-सादे रहने वाले प्रेमचंद जी के पैसे के बल पर ऐन उन्हीं की आंखों के नीचे उस जवान ने ऐसे-ऐसे ऐश किए कि प्रेमचंद आंख खुलने पर स्वयं विश्वास न कर सकते थे। प्रेमचंद जी से उसने अपना विवाह तक करवाया, बहू के लिए ज़ेवर बनवाए, और प्रेमचंद जी सीधे तौर पर सब कुछ करते गए। कहते थे—भई जैनेन्द्र, सर्राफ को अभी पैसे देने बाकी हैं। उसने जो सोने की चूड़ियाँ बहू के लिए दिलाई थीं, उनका पता तो मेरी धर्मपत्नी को भी नहीं है। अब पता देकर अपनी शामत ही बुलाना है। पर देखो न जैनेन्द्र, यह सब फरेब था। वह लड़का ठग निकला। अब ऊपर ही ऊपर जो दो-एक कहानियों के रुपये पाता हूँ उससे सर्राफ का देना चुकता करता जाता हूँ।...उस

चतुर युवक ने प्रेमचंद जी की मनुष्यता को ऐसे झांसे में पकड़ा और उसे ऐसा निचोड़ा कि और कोई होता तो उसका हृदय हमेशा के लिए हीन और कठिन और छूछा पड़ गया होगा। पर प्रेमचंद का हृदय इस धोखे के बाद भी मानो और धोखा खाने की क्षमता रखता था। उस हृदय में मानवता के लिए सहज विश्वास की इतनी अधिक मात्रा थी।”

जैनेन्द्र के प्रेमचंद पर लिखे गए संस्मरण के इस अंश पर आकर ठिठक गया और कई दिनों तक सोचता रहा कि वह ठग युवक कौन हो सकता है, जिसको प्रेमचंद ने अपने हृदय में स्थान दिया और उसके लिए इतना अधिक खर्च किया। इतनी? आत्मीयता किस युवक से थी, वह कौन था? ठग, धोखेबाज, नौटंकीबाज— किंतु इतना प्यारा और प्रतिभाशाली— कौन था वह युवक? कई दिनों तक यह प्रश्न अंदर उठता रहा और बेचैन रहा। फिर अचानक एक नाम याद आया—भुवनेश्वर प्रसाद!

ऐसे थे प्रेमचंद! यहां तो ऐसे लेखकों की भरमार है जो एक भी अप्रीतिकार लगने वाली बात पर बातचीत बंद कर देते हैं या गुस्से



में आग-बबूला होकर खड़गहस्त हो जाते हैं। अपने अराजक व्यक्तित्व के कारण भुवनेश्वर का उनके समकालीन लेखकों ने बहिष्कार कर दिया था, पर कुछ सदाशयी लेखक थे, जिनका स्नेह उनको मिला था। ऐसे लेखकों में प्रेमचंद पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने भुवनेश्वर को सबसे पहले 'हंस' में स्थान दिया और उनकी पुस्तक की छपने के साथ ही लंबी समीक्षा लिखी, जिसके बल पर भुवनेश्वर साहित्य में अपनी रचनाशीलता को लगातार जारी रख सके। भुवनेश्वर का पहला एकांकी 'श्यामा—एक वैवाहिक विडंबना' 'हंस' के दिसंबर, 1933 में प्रेमचंद ने प्रकाशित किया। मार्च, 1934 ई. के 'हंस' में उनका दूसरा एकांकी 'एक साम्यहीन साम्यवादी' और इसी वर्ष उनका 'शैतान' नामक एकांकी। इन तीनों एकांकियों के प्रेमचंद द्वारा ('हंस' में) प्रकाशित होते ही भुवनेश्वर को साहित्य जगत में मान्यता मिल गई। उन्होंने तीन अन्य 'प्रतिभा का विवाह', 'रोमांस-रोमांच' एवं 'लाटरी' नामक एकांकियों को मिलाकर अपना 'कारवां' नामक एकांकी-संग्रह 1935 ई. में प्रकाशित किया। इसकी भूमिका उन्होंने प्रयाग-प्रवास में 30 मार्च, 1935 ई. को लिखी और पुस्तक अप्रैल महीने में छपी, तो उन्होंने काशी जाकर उसे प्रेमचंद को दिया। प्रेमचंद ने उसकी लंबी समीक्षा लिखी जो मई, 1935 ई. के 'हंस' में प्रकाशित हुई। भुवनेश्वर ने 'कारवां' की भूमिका और 'उपसंहार' बिल्कुल नए अंदाज में लिखी है, जिसमें उनकी अद्भुत मान्यताएँ सूक्तियों के रूप में उजागर हुई हैं।

भुवनेश्वर की 'कारवां' उनकी रचना-शीलता के प्रारंभिक चरण में ही प्रकाशित उनका इकलौता एकांकी-संग्रह है, उनकी कोई दूसरी पुस्तक उनके जीवन-काल में क्या, उनकी मृत्यु के बाद भी नहीं छपी, जबकि उन्होंने लगातार एकांकी, कहानी, कविता, लेख आदि लिखे, जो पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे रह गए। उनकी साहित्यिक दुनिया में चर्चा होती रही, नए एकांकी के प्रारंभकर्ता के रूप में हिंदी साहित्य के इतिहास में उनका स्थान भी निश्चित हो गया।

भुवनेश्वर का जन्म 1910 ई. में शाहजहांपुर में हुआ था। वहीं से उन्होंने अंग्रेजी प्रतिष्ठा के साथ स्नातक तक की पढ़ाई की थी। विद्यार्थी जीवन में उन्होंने अंग्रेजी भाषा में दक्षता प्राप्त कर ली थी और उर्दू-हिंदी में लिखने का अभ्यास किया था। जॉर्ज बर्नार्ड

शॉ के नाटक उनके घोंटे हुए थे। उन्होंने अपने एकांकी 'शैतान' के एक दृश्य में शॉ की छाया को स्वीकार भी किया है। कुछ समय तक वे फ्रायड और डी.एच.लॉरेंस से भी प्रभावित रहे। इनके अलावा उन पर सबसे अधिक प्रभाव आस्कर वाइल्ड का था। 1933 में वे शाहजहांपुर से आगे का अध्ययन करने इलाहाबाद आए और उनकी घनिष्ठ मित्रता उर्दू के प्रसिद्ध नवयुवक लेखक और बैरिस्टर सज्जाद जहीर से हुई। नवंबर, 1932 ई. में सज्जाद जहीर ने उर्दू में 'अंगारे' नामक एक संयुक्त संकलन निकाला था, जिसमें उनके अलावा रशीदजहां, अहमद अली और महमूद जफर की चार कहानियाँ एवं एक एकांकी संकलित किया गया था। 'अंगारे' की कहानियों ने मुसलिम समाज की जड़ता, अंधविश्वास, सड़न और बदबू को उद्घाटित करते हुए उर्दू साहित्य में एक नई कलादृष्टि को जन्म दिया और यही संकलन उर्दू के तरक्कीपसंद लेखकों की प्रेरणा का प्रस्थान-बिंदु माना जाता है। इस संकलन पर बेहद वाद-विवाद हुए और संयुक्त प्रांत की सरकार ने मार्च, 1933 ई. में उस पर प्रतिबंध लगा दिया। उस समय सज्जाद जहीर इलाहाबाद के 38 कैनिंग रोड पर रहते थे। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्राध्यापक रघुपति सहाय फिराक और अहमद अली प्रायः उनके घर बैठकी करते। भुवनेश्वर भी इसमें शामिल होते। इलाहाबाद में ही उनके दो मित्र और बने—शिवदान सिंह चौहान एवं शमशेर बहादुर सिंह। ये दोनों तब एम.ए. में पढ़ते थे। 12 फरवरी, 1936 ई. को इलाहाबाद के 'हिंदुस्तानी एकेडेमी' में भाग लेने प्रेमचंद आए थे और 14 फरवरी को सज्जाद जहीर के घर पर एक बैठक हुई जिसमें प्रगतिशील लेखक संघ स्थापित करने का निर्णय लिया गया। यह 'अंगारे' के लेखकों की मूल संकल्पना थी, जिसके प्रेरक प्रेमचंद थे। एक-डेढ़ महीने में ही इलाहाबाद में हिंदी-उर्दू लेखकों का यह सक्रिय मंच बन गया और देखते-ही-देखते कई शहरों में इसकी शाखाएँ खुल गईं। 10 अप्रैल को लखनऊ में इसका भव्य समारोह हुआ। भुवनेश्वर युवा लेखक के रूप में इसमें शामिल थे। उस समय भुवनेश्वर से जो भी मिला, वह उनकी प्रतिभा से कुछ प्रभावित और ज्यादा आतंकित हुआ। प्रगतिशील लेखक संघ के समारोह के बाद महीनों तक वे लखनऊ में रहे। रामविलास शर्मा से उनकी दोस्ती इलाहाबाद में हो चुकी थी। तब रामविलास

जी रिसर्च कर रहे थे और अकेले रहते थे। भुवनेश्वर प्रसाद उनसे मिलने जाया करते।

रामविलास शर्मा ने भुवनेश्वर की तीखी बहसें होतीं। अपने निरंकुश स्वभाव के बावजूद भुवनेश्वर में कुछ बातें ऐसी थीं कि रामविलासजी के मन में उनके प्रति सहृदयता थी। उस समय यानी 1936 ई. के दिनों की याद करते हुए रामविलास शर्मा ने लिखा है : "प्रेमचंद, फिराक और सज्जाद जहीर के इर्द-गिर्द चक्कर काटनेवालों में एक नौजवान लेखक थे भुवनेश्वर। कद में वह प्रेमचंद से भी छोटे थे। अंग्रेजी और उर्दू अच्छी जानते थे, अपनी 'विट' से युनिवर्सिटी के छात्रों और प्राध्यापकों को प्रभावित करने में यह अद्वितीय थे। उन्होंने कुछ दिन तक लोगों पर यह रोब गालिब किया था कि वह आई.सी.एस. परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुके हैं, पर साहित्य-सेवा के लिए नौकरी नहीं की। दोस्तों से किताबें मांगकर ले जाते, किसी सैकेंडहैंड किताबों की दूकान में या कबाड़ी के यहां बेच आते। जान-पहचान वालों से अठन्नी, चवन्नी, रुपया जो मिल जाए, मांगने में उन्हें शर्म न थी। उन्हें कुछ अश्लील लोकगीत याद थे, फुर्सत में कभी-कभी मेरे कमरे में चटाई पर लेटे हुए पैरों में घुंघरी बांधकर ताल देते हुए ये गीत मुझे और नरोत्तम नागर को सुनाते थे। मैं उनसे कहता—तुम न्यूरोटिक हो, प्रोग्रेसिव राइटर से तुम्हारा क्या संबंध? भुवनेश्वर जवाब देते—'ए प्रोग्रेसिव इज ए न्यूरोटिक शॉट थू विद होप।'"

ऐसा था भुवनेश्वर का व्यक्तित्व! अनैतिकता का उन्होंने अपना ऐसा चरित्र बनाया था कि लोग उसे पचा नहीं पाते थे। वे बदनाम बनकर जीना चाहते थे। ठग, धोखेबाज, नशेबाज, भुवनेश्वर ने सबसे पूज्य स्थान प्रेमचंद को दिया था, पर उनसे भी छल करना उन्होंने अपना कर्तव्य समझा। अंग्रेजी साहित्य में जो स्थान आस्कर वाइल्ड का है, वे वही स्थान हिंदी साहित्य में अपना बनाना चाहते थे। अपनी अद्वितीय साहित्यिक प्रतिभा के सहारे उन्होंने प्रेमचंद जैसे मानव-आत्मा के शिल्पी कथाकार को अपना मुरीद बना लिया था, जिन्होंने 'कारवां' की समीक्षा के प्रारंभ में लिखा था—“ 'कारवां' हिंदी साहित्य के इतिहास में एक नई प्रगति का प्रवर्तक है, जिसमें शॉ और आस्टर वाइल्ड का सुंदर समन्वय हुआ है। अभी तक हमारा हिंदी ड्रामा घटनाओं और चरित्रों और कथाओं के आधार पर ही रखा

गया है। कुछ समस्या नाटक भी लिखे गए हैं। जिनमें रूढ़ियों का या नए-पुराने विचारों का खाका खींचा गया है, पर सब कुछ स्थूल, घटनात्मक दृष्टि से हुआ है, जीवन और उसकी भिन्न-भिन्न समस्याओं पर सूक्ष्म, पैनी, तात्त्विक, बौद्धिक दृष्टि डालने की चेष्टा नहीं की गई जो नए ड्रामा का आधार है।”

प्रेमचंद को भुवनेश्वर ने कितना प्रभावित किया था इसका प्रमाण है उपर्युक्त पंक्तियाँ। भुवनेश्वर एक साथ शॉ और वाइल्ड होना चाहते थे। शॉ होना प्रेमचंद के लिए अच्छी बात थी, किंतु आस्कर वाइल्ड की विशेषताएँ वे छोड़कर आगे बढ़ें, ऐसा प्रेमचंद चाहते थे। उन्होंने निष्कर्ष देते हुए लिखा—“भुवनेश्वर प्रसाद जी में प्रतिभा है, गहराई है, दर्द है, पते की बात कहने की शक्ति है, मर्म को हिला देने की वाक्चातुरी है। काश, वह इसका उपयोग ‘एक साम्यहीन साम्यवादी’ जैसी रचनाओं में करते। आस्कर वाइल्ड के गुणों को लेकर क्या वह उसके दुर्गुणों का नहीं छोड़ सकते।” प्रेमचंद ने ‘कारवां’ की समीक्षा जितने जोरदार ढंग से लिखी है, उतनी किसी दूसरी पुस्तक की नहीं। जितनी भुवनेश्वर की प्रशंसा की है, किसी लेखक की नहीं। वे भुवनेश्वर को कितना मानते थे, स्नेह करते थे, उनके शब्दों में छलछला रहा है। बस वे चाहते थे कि वाइल्ड के दुर्गुणों को छोड़कर वे आगे बढ़ें। लेकिन ऐसा हो नहीं सका। भुवनेश्वर मानव स्वभाव की पतनशील प्रवृत्तियों को अपने लेखन से ज्यादा अपने जीवन में जगह दे चुके थे और उसकी दिशा में आगे बढ़ रहे थे। वे रिश्ते-नाते, घर-परिवार सभी को त्यागकर साहित्य-सेवा में आए और अद्भुत, अश्रुतपूर्व, मौलिक उद्भावनाओं से परिपूर्ण अनेक रचनाओं की सृष्टि की, जिसकी चमक आज भी फीकी नहीं हुई है। ‘कारवां’ में संकलित छह एकांकियों के अलावा उनके महत्त्वपूर्ण एकांकी निम्नलिखित हैं—1936 ई. में ‘मृत्यु’, ‘हम अकेले नहीं’, ‘सवा आठ बजे’, 1938 में ‘हंस’ के एकांकी नाटक विशेषांक में प्रकाशित ‘स्ट्राइक’, जिसका जिक्र रामचंद्र शुक्ल के ‘हिंदी साहित्य का इतिहास’ में है। इसी वर्ष ‘हंस’ में ही ‘ऊसर’ एवं ‘रूपाभ’ के पांचवें अंक (अक्टूबर 1938 ई.) में ‘आदमखोर’ नामक नाटक छपा। 1940 ई. में गोगोल के नाटक का एकांकीकरण ‘इंसपेक्टर जनरल’ प्रकाशित हुआ। 1941 ई. में ‘विश्ववाणी’

पत्रिका में ‘रोशनी और आग’ नामक एकांकी छपा। 1942 ई. में प्रतीकवादी शैली में उनका प्रथम एकांकी ‘कठपुतलियाँ’ का प्रकाशन। 1945 ई. में ‘फोटोग्राफर के सामने’ और उनका सर्वाधिक चर्चित एकांकी ‘तांबे के कीड़े’ 1946 ई. में छपा। 1948 ई. ‘इतिहास की केंचुल’, 1949 ई. में ‘आजादी की नींव’, ‘जेरुसेलम’, ‘सिकंदर’, 1950 ई. में ‘अकबर’, ‘चंगेज खां’ और अंतिम एकांकी ‘सीकों की गाड़ी’ का प्रकाशन हुआ। ये भुवनेश्वर के अमर एकांकी हैं, जो विभिन्न पाठ्य-पुस्तकों में संकलित होते रहते हैं और किसिम-किसिम के लिखे हिंदी साहित्य के इतिहासों में एकांकी विधा के प्रसंग में उल्लेख किए जाते रहे हैं। सभी इतिहासकारों ने एक स्वर में यह स्वीकार किया कि नए ढंग के एकांकी नाटक लिखने की शुरुआत भुवनेश्वर ने ही की। यह ध्यान में रखने की बात है कि हिंदी में पहला एकांकी-संग्रह जयशंकर प्रसाद का 1929 में प्रकाशित ‘एक घूंट’ है एवं दूसरा 1935 ई. में प्रकाशित ‘कारवां’। इस तरह यह निर्विवाद रूप से हिंदी साहित्य के इतिहास में सर्वसम्मत रूप से दर्ज कर लिया गया कि भुवनेश्वर का एकांकी-साहित्य में अप्रतिम योगदान है।

1936 ई. में भुवनेश्वर लखनऊ में रह रहे थे। वहीं उनकी निराला से अक्सर भेंट हो जाया करती। उसी समय निराला ने अपनी कमर से ऊपर तक नग्न तस्वीर खिंचवाई, यह वही तस्वीर है जो ‘निराला रचनावली’ के वर्तमान संस्करण के मुखपृष्ठ पर प्रकाशित है। यह तस्वीर उनके लंबे निबंध ‘मेरे गीत और कला’, (जो ‘माधुरी’ के तीन अंकों में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था) के पहले किस्त के साथ ‘माधुरी’ के मार्च, 1936 अंक में प्रकाशित हुई। भुवनेश्वर ने लखनऊ के कैसरबाग में स्थित पुस्तकालय में बैठकर निराला का यह निबंध ध्यान से पढ़ा और उनके इस चित्र ने उनको काफी प्रभावित किया। निराला की अर्धनग्न यह तस्वीर भुवनेश्वर को बहुत दिलचस्प लगी, लगा कि उनके ही जैसा अजब, गजब और बेबाक एक तेजस्वी व्यक्तित्व है हिंदी में, जो शालीनता, सज्जनता, पूर्वाग्रह, नैतिकता की दीवार तोड़कर, अपने ओढ़े हुए सभी आवरण हटाकर, साहित्य में संघर्ष कर रहा है। अक्टूबर महीने के प्रारंभ में ही भुवनेश्वर ‘माधुरी’ के दफ्तर गए और उसके संपादक रूपनारायण पांडेय से कहा कि

वे निराला पर एक लेख लिखना चाहते हैं, पर पारिश्रमिक तुरंत चाहिए। रूपनारायण पांडेय ने इसे स्वीकार कर लिया। भुवनेश्वर ने ‘माधुरी’ के दफ्तर में बैठकर निराला पर एक अद्भुत लेख लिखा, जिसके प्रारंभ में उन्होंने निराला से बातचीत का एक टुकड़ा रखा, फिर निराला पर अपनी विलक्षण राय रखी—“निराला बंगाली संस्कृति का कवि है। वह संस्कृति जो ‘टैगोर की द्रुत मैनरिज्म’ में पैदा हुई है, जिसके अति विश्लेषण में कबीर, ब्लैक सभी आते हैं। पंत को उसने बार-बार टैगोर का प्रोटेजे बताया है, पर सत्य यह है कि निराला टैगोर को पचा न सका। वह मैनरिज्म का कवि है, वह उपमाओं और उल्लेखों का कवि है, वह अपने सर्वोत्तम रूप में भी एक चतुर शिल्पी है। शायद महान भी, पर महान कवि नहीं। निराला में टैगोर की शक्ति नहीं, ‘जुही की कली’, ‘तुम और मैं’ वगैरह में अर्थ की स्थूलता है। निराला मेहनती है, आत्माभिमानि है, विशाल हृदय है, उसकी कविता में साधना है, अध्यवसाय है, कारीगरी है, कोमलता है, पर वही नहीं है जिसके बगैर वह न ब्राउनिंग है, न बर्न्स, केवल निराला है। वह बना सकता है, पर निर्माण नहीं कर सकता। वह जीवन को पचा नहीं सकता। कथाकार की हैसियत से निराला गंभीर विवेचन का पात्र नहीं है।”

नवंबर, 1936 की ‘माधुरी’ में भुवनेश्वर का यह लेख छपा। इस लेख की हिंदी के साहित्यकारों के बीच काफी चर्चा हुई। इस तरह की भाषा में हिंदी में लिखी यह पहली आलोचना थी। तब निराला इलाहाबाद के लीडर प्रेस में वाचस्पति पाठक के साथ रह रहे थे। ‘राम की शक्तिपूजा’ उसी समय साप्ताहिक ‘भारत’ में प्रकाशित हुई थी। भुवनेश्वर के इस लेख से वे बहुत दुखी और क्षुब्ध हुए। निराला को लगा कि यह उनकी रचनाशीलता पर भीषण तौर पर किया गया हमला है। 7 नवंबर को निराला ने रामविलास शर्मा को लिखे पत्र में पूछा—‘माधुरी’ में मुझ पर छपा वह लेख भुवनेश्वर वाला तो देखा होगा? फिर 8 नवंबर को उन्होंने रामविलास शर्मा को सूचित किया कि माधुरी को उत्तर कल भेज रहा हूँ। साथ दो और आदमियों के संस्मरण हैं भुवनेश्वर पर। फिर 9 नवंबर को पत्र में लिखा—“श्री भुवनेश्वर प्रसाद को उत्तर भेज चुका हूँ। मैंने भूमिका भर लिखी है, मुझे ही लिखना था, क्योंकि बातचीत उन्होंने मेरी लिखी है, उनका परिचय मेरे मित्र

पं. वाचस्पति पाठक और बलभद्र प्रसाद मिश्र एम.ए. (आपकी तरह प्रयाग विश्वविद्यालय के रिसर्च स्कालर) ने लिखा है, दोनों पत्र भेज दिए हैं जो बड़े चुभते हुए हैं। वहां छपते-छपते पढ़ लीजिएगा। उनके लिए बड़े तिवक्त साबित होंगे।” पत्र के अंत में उन्होंने रामविलास शर्मा को सुझाव दिया—“आप साहित्यिक तरीके से एक लेख लिखकर भुवनेश्वर प्रसाद से अंग्रेजी और फ्रेंच का ज्ञान थोड़ा-बहुत प्राप्त करने की कोशिश करें तो क्या बुरा है : Morbidity तो वे आपको बहुत दिनों तक बताएँगे, यह मैं दावे के साथ कह सकता हूँ। “उनके उत्तर में मैंने आपका थोड़ा-सा उल्लेख किया है कि “स्कॉलर कवि मित्र श्री रामविलास शर्मा के यहां कला की रूपरेखा लिखी।”

भुवनेश्वर को साहित्य से खारिज कर देने वाला निराला का यह उग्र लेख ‘कला की रूपरेखा’ वाचस्पति पाठक एवं बलभद्र प्रसाद मिश्र की टिप्पणियों के साथ ‘माधुरी’ के दिसंबर, 1936 अंक में छपा, जिसमें उनको फरेबी स्वभाव और मनगढ़ंत हांकने वाला सिद्ध किया। अब तक भुवनेश्वर अपनी प्रतिभा के दम पर अपने आपको प्रगतिशील, नए साहित्य-विवेक और विद्रोही चेतना से सम्पन्न ऊंचाई पर महसूस करते रहे थे, पर ‘कला की रूपरेखा’ ने पहली बार उन्हें धराशायी कर दिया था। वे निरीह और हताश नजर आए। उन्होंने निराला को उत्तर दिया, जो जनवरी, 1937 की ‘माधुरी’ में छपा—“अगर निराला जी का Vindication है तो कुरुचिपूर्ण, अगर Revenge तो बहुत सख्त।...मैं फिर कहता हूँ कि इस प्रसंग में कमोबेश मैंने उनके शब्द ही दोहराए हैं और बर्न्स वाली बात उस वक्त मुत्तलक नहीं हुई थी।...रहा एम.ए. और आई. सी.एस. का फरेब, मैं अपराधी प्लीड करता हूँ, कर चुका हूँ कई बार। परिस्थितियाँ बलवती मनुष्य से इससे भी जघन्य काम करवाती हैं, मुझसे करवा चुकी हैं। इन्हें संग्राम करते हुए एक कलाकार पर दाग लगाने के लिए प्रयोग करना हलकापन है। खैर! अगर इस बात से जन्म भर के लिए मैं Taboo किया जा सकता हूँ मेरी बला इसकी परवा करे।” अंत में उन्होंने लिखा कि “अब अपनी ओर से इसे (यानी इस प्रसंग को) समाप्त ही करता हूँ। अगर मैं वाकई मर गया हूँ तो गालिब का एक शेर निराला जी, मिश्र जी, पाठक जी और पसेपर्दा और सज्जन सुन लें—

गर नहीं है मेरे मरने से तसल्ली न सही
इस्तहां और भी बाकी हो तो यह भी न सही।”

रामविलास शर्मा ने निराला की जीवनी लिखते हुए इस प्रसंग का विस्तार से उल्लेख किया है। मैं इस प्रसंग को जब भी पढ़ता हूँ, मुझे फणीश्वरनाथ रेणु की ‘अगिनखोर’ कहानी की याद आती है, जिसे उन्होंने पटना के दो विद्रोही युवा लेखकों को एक चरित्र में ढालकर ‘अगिनखोरजी’ बनाकर कुछ वैसा ही प्रसंग खड़ा किया था। 1972 ई. में ‘साप्ताहिक हिंदुस्तान’ में जब वह कहानी प्रकाशित हुई थी तब ये दोनों युवा लेखकों (आलोकधन्वा और जुगनू शारदेय) ने उनसे पटना कॉफी हाउस में तीव्र बहस की थी कि उनके चरित्र को आधार बनाकर उन्होंने क्यों वह कहानी लिखी?

रामविलास शर्मा ने इस प्रसंग के अंत में लिखा है—“भुवनेश्वर कलाकार थे। घिर जाने पर साफगोई से काम लेते थे। अपनी पूंजी बहुत कम थी। दूसरों से उधार लिए हुए माल पर अपनी विट से पालिश ही कर सकते थे। पर बहुत से आई.सी.एस. अफसरों, एम. ए. पास होनहारों और प्रोफेसरों से वह ज्यादा काबिल थे। यही सबब है कि इस वर्ग के लोगों को इतने दिन तक वह चकमा देते रहे, भेद खुल जाने पर भी उनकी प्रतिभा की दाद देने वाले उनमें दस-पांच फिर भी बचे रहे। निराला विचलित हुए, अपने साथ दो अन्य व्यक्तियों के लेख लेकर उत्तर देने आए, यह भुवनेश्वर की सफलता थी।”

खानाबदोश अर्थात् आवारा, चकमा देने वाला, छली, ठग, जालसाज भुवनेश्वर की अजीबोगरीब दास्तान चलती रही। वे इलाहाबाद, लखनऊ और काशी की गलियों में घूमते-फिरते कई लेखकों को अनायास दिखलाई पड़ते और फिर ओझल हो जाते। भोजन-पानी का इन्तजाम हुआ, फिर किसी पुस्तकालय में पढ़ते नजर आते। वहीं बैठकर कुछ लिखते। कभी पत्र-पत्रिकाओं के दफ्तर में। उनकी रचनाएँ यदा-कदा छपती रहतीं। भुवनेश्वर में इतनी प्रतिभा थी कि कहीं नौकरी कर सकते थे, घर बसा सकते थे, व्यवस्थित जीवन जीते हुए विपुल साहित्य रच सकते थे। किंतु उन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को स्वेच्छाचारी बनाया था। उनकी मृत्यु के बाद उनका अंतिम संस्कार करने वाला न कोई था और न उनकी रचनाओं को सहेजने वाला। उनका जीवन जैसा बिखरा था, उनकी रचनाएँ भी बिखरी रह गईं। राजेंद्र

यादव के ‘हंस’ में उनकी विलुप्त कहानी ‘भेड़िए’ जब पुनर्मुद्रित हुई तो समकालीन लेखकों का ध्यान इस प्रतिभाशाली लेखक की रचनाशीलता पर अचानक गया। फिर एक चुप्पी भरा माहौल।

रामविलास शर्मा जिस तरह भुवनेश्वर की प्रतिभा का सम्मान करते थे, उससे भी बढ़कर कदर करने वाले शमशेर बहादुर सिंह थे। 1958 ई. के जनवरी में जब भुवनेश्वर की मृत्यु की खबर आई तो वह शमशेर को झकझोर गई और उन्होंने भुवनेश्वर पर एक कविता लिखी जो हरिशंकर परसाई के संपादन में निकलने वाली पत्रिका ‘वसुधा’ में छपी। बाद में उस कविता को शमशेर ने संशोधित-परिवर्तित कर ‘कुछ और कविताएँ’ (1961) में शामिल किया। किंतु, रामविलास शर्मा को उसका पहला प्रारूप ही पसंद था। जब उन्होंने शमशेर की कविताओं पर ‘धर्मयुग’ (27 जून, 1965 ई.) में ‘शमशेर बहादुर सिंह : गहरे बीहड़ संस्कारों वाला काव्य-व्यक्तित्व’ नामक लेख लिखा, तो ‘वसुधा’ में प्रकाशित कविता के पाठ को ही ज्यादा सही बताया। भुवनेश्वर पर लिखी यह शमशेर की एक अमर कविता है, जो उनके जीवन और साहित्य को समझने का एक नया नजरिया देती है।

शमशेर ने भुवनेश्वर की जीवंत और यथार्थ तस्वीर प्रस्तुत की है, साथ ही उनके साथ के अपने लगाव को मार्मिकता से उजागर किया है। भुवनेश्वर अपने अंतिम दिनों में ज्यादातर बनारस में विदेशी सैलानियों के बीच रहते थे। यदा-कदा जब कभी इलाहाबाद आते तो शमशेर के साथ ही रहते। उनकी लिखी हुई अनेक रचनाएँ शमशेर के यहां अप्रकाशित पड़ी हुई रहतीं। 1950 के बाद अपनी रचनाओं के प्रकाशन की उनको चिंता ही नहीं रह गई थी। शमशेर ने उनकी कुछ रचनाओं को तब इलाहाबाद की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित करवाया था। उन्होंने अंग्रेजी में भी काफी कुछ लिखा था। शमशेर ने ‘निकष’ के तीसरे एवं चौथे संयुक्त संकलन में, जिसके संपादक धर्मवीर भारती और लक्ष्मीकांत वर्मा थे और जो जनवरी, 1957 में प्रकाशित हुआ था, भुवनेश्वर की एक अंग्रेजी कविता का अनुवाद प्रकाशित करवाया था।

यशवंत नगर, मार्खम कॉलेज के निकट,
हजारीबाग-825301 (झारखंड) e-mail :
bharatyawar@yahoo.com, Mo. :
9835312665

भीमसेन जोशी : जन-जन का अनहद

कुबेर दत्त

उ

स दिन बता रहे थे रामचंद्र गुहा... अगर आप बर्कले की युनिवर्सिटी ऑफ़ केलिफोर्निया की 'डो' लायब्रेरी से बाहर निकलकर दाहिने मुड़ें तो एक ढलान है जो कैम्पस के पश्चिमी छोर तक जाता है। दिन साफ़ हो तो आप उसके पार सेन फ्रांसिस्को का समुद्री किनारा देख सकते हैं। दोपहर में तो वह अद्भुत दृश्य होता है...कि जब युनिवर्सिटी के घंटाघर का घंटा बज रहा हो, आपके साथ शानदार पेड़ों की कतार दूर तक जा रही हो और प्रशांत महासागर का पानी डूबते सूरज के रंगों में रंगा हो। ऐसे ही वातावरण में प्रसिद्ध इतिहासकार रामचंद्र गुहा '97 में एक दोपहर में जब लाइब्रेरी से बाहर निकले तो एक बहुत परिचित आवाज़ सुनाई पड़ी। वह पं.भीमसेन जोशी की आवाज़ थी! सेनफ्रांसिस्को में भीमसेन जोशी? वे उधर बड़े जिधर से वह आवाज़ आ रही थी। देखा कि सड़क के किनारे एक पिकअप ट्रक खड़ा है। उसका ड्राइवर ऑवरऑल पहने था। आगे की सीट पर एक कैसेट रिकॉर्डर रखा था। उसी में भीमसेन जोशी का कैसेट बज रहा था। रामचंद्र गुहा के आश्चर्य का ठिकाना न था। भीमसेन जोशी की आवाज़ की तरंगों में समुद्र का किनारा और भी सुंदर नज़र आ रहा था।

इसके पहले भी संगीत के बड़े-बड़े उस्तादों-पंडितों का निधन हुआ है और उनकी विशिष्टताओं की सघन चर्चाएं भी बहुत हुई हैं लेकिन इतिहास में यह पहली बार देखने को मिल रहा है कि पं. भीमसेन जोशी के निधन के बाद ऐसे अनेक पक्ष सामने आते ही जा रहे हैं जिनके बारे में उतनी और वैसी जानकारीयां आम नहीं थीं। यह तो सब जानते हैं कि उनकी आवाज़ की ताकत और विस्तार शंकरा, दुर्गा और मारू बिहाग जैसे रागों में, एकदम पारदर्शी

हैं लेकिन कम लोग जानते हैं कि पांचवें और छठे दशक में उन्होंने जब यमन गाया था तो उसमें अंतर्मुखी चिंतनशीलता दिखाई पड़ती थी।

भीमसेन जोशी के समय में अनेक श्रेष्ठ हिंदुस्तानी शास्त्री संगीत-गायक हुए—अमीर खां, कुमार गंधर्व, मल्लिकार्जुन मंसूर, गंगूबाई हंगल, किशारी अमोनकर, पुट्टराजकरीम खां, सवाई गंधर्व...मगर क्या वजह है कि सर्वाधिक जनव्याप्ति भीमसेन जोशी की हुई? इसका शास्त्रीय उत्तर तो संगीत के अधिकारी विद्वान ही दे सकते हैं मगर एक संगीत-प्रेमी के नाते मैं यही कह सकता हूं कि उनमें कंठ का उन्मुक्तिकरण-कौशल बेजोड़ था। गायन तो उनका शुरु से ही सशक्त और ऊर्जापूर्ण था। कोमलता भी कंठ में शुरु से ही विराजती थी। मंद्र से तारसप्तक तक उनके कंठ की आवाजाही नितान्त निरायास थी ही। वे चकित और मुग्ध कर देने वाली आकस्मिकता से एक ही तान में अपना स्थान बदलने में माहिर थे।

शुरु में वे दबे कंठ से गाते थे और जादू बुनते थे मगर जब उन्होंने कंठ का विस्तार किया तो नए करिश्मे सामने आने लगे। यह नाटकीय परिवर्तन औचक नहीं हुआ, इसके पीछे उनकी लंबी साधना थी। पहले वे गुरुमह उस्ताद अब्दुल करीम खां और गुरु सवाई गंधर्व की शैली को साधते और गाते रहे लेकिन जब



उन्होंने स्वयं अपनी ऊर्जा के विस्तार की छटपटाहट महसूस की तो उनमें नाटकीय परिवर्तन हुआ। इस फर्क को जानने के लिए याद करें 1965 में भीमसेन जोशी का गाया हुआ राग बिलावल और 1987 में उनका गाया राग विभास! विभास के शुरुआती सुर सुर सुनते ही 'पहले' और 'बाद' का अंतर समझ में आ जाएगा। कह सकते हैं कि उन्होंने अपना ही अतिक्रमण किया। यह भी कह सकते हैं कि उन्होंने अपना ही आविष्कार किया।

उन्होंने अपने भीतर 'असंभव' को 'संभव' बनाने की हठ ठान ली थी। उन्होंने यानी पुनर्नवा भीमसेन जोशी ने सिद्ध कर दिया कि कला और अदायगी का कोई अनिवार्य अंतर नहीं होता। कल्पना का निरूपण कंठ कर सकता है। कोमल से कोमलतर, महीन से महीनतर, भव्य से भव्यतर सब कुछ संभव है। संभव है सूक्ष्म सुनारी और स्थापत्य का वैभव-ठाठ। सब सहज, अविभाज्य...।

प्रो. सुधीरचंद्र ने सही ही कहा है कि भीमसेन जोशी को गायकी की संरचना शुरु से ही सुगठित और सौष्ठवपूर्ण थी। खासतौर से उनके खयाल गायन का उल्लेख किया जा सकता है। उनके खयाल गायन में अंतरा की विस्तृत अदायगी रोमांचकारी होती थी। शुरु से ही बहुत मनोहारी ढब होता था उनका स्थायी को धीरे-धीरे बढ़ाकर अंतरा पर टिकने का। अंतरा को भी वैसे ही मंथर तरीके से स्नेहपूर्वक आगे बढ़ाने के बाद वे स्थायी पर मध्य लय में लौटते थे। वे जब चाहते सम पर आने वाले शब्द को बदल देते, जबकि श्रोता सोचते कि सम निर्धारित शब्द पर ही आएगा।

कहने को तो वे कहते थे कि उनका गायन विशुद्ध कैराना घराने का है जबकि उन्होंने सवाई गंधर्व के अलावा दूसरे लोगों से भी

बहुत कुछ सीखा था। संगीत-पिपासा उन्हें कोलकाता, जालंधर, ग्वालियर, रामपुर, अमृतसर और न जाने कहां-कहां ले गई। वे घराने की जकड़बंदी में बंधे नहीं। खुद कैराना घराने के पुरोधा अब्दुल करीम खां साहब उत्तर भारत के विशाल संगीत वैभव से सम्पन्न थे और अनेक संगीत-केंद्रों की परंपराओं से सम्पन्न थे। वही दुर्लभ गुण पं. भीमसेन जोशी में आया जिसका और भी विकास और विस्तार उन्होंने किया। वे परंपरा और नव्यतर प्रयोगों के संगम थे। उन्होंने स्वर साम्राज्ञी लता मंगेशकर के साथ भजनों की जब रिकॉर्डिंग की तो लता जी ने कहा था कि उन्होंने एक कड़ी परीक्षा पास की है। भीमसेन जोशी को सुनने के लिए भीड़ उमड़ पड़ती थी। वे अपने गायन से सबको मंत्रबिद्ध कर देते थे मगर विनम्रता का चरम देखिए, वे अपनी हर प्रस्तुति अथवा रिकॉर्डिंग के बाद कहते थे— 'कुछ कमी रही गई।' उसके बाद तो मूसलाधार बारिश होने लगी। मगर जोशी जी का गायन न रुका। उन्होंने गाया और जमकर गाया। दर्शक और वे दोनों भीगते रहे मगर गायन चलता रहा और सब धैर्य और आनंद के साथ सुनते रहे। एक बार लालकिला के दरबार हॉल में उनका गायन हुआ था। अवसर था उनके गुरु पं. सवाई गंधर्व की जन्म शताब्दी के उपलक्ष्य में दो दिन का आयोजन। भीमसेन जोशी ने भी उसमें शिरकत की थी। गायन का प्रारंभ गुरु-प्रशस्ति करती मारवा की एक रचना से हुई। बाद में मराठी में बोलते हुए उन्होंने कहा कि सुननेवालों को 'जास्ती आनंद' मिले, इसलिए बंदिश के बोल वे शुरू में ही बता देना चाहते हैं। फिर यह कहते हुए कि 'देवाची प्रार्थना आहे', उन्होंने बोल बताया— 'सुमिरो तेरो नाम, जीव दिया सब संसार/हे काजी करीम/अरज करत इब्राहीम/मेरे तो मौला/तुझ बिन कौन निस्तारे/सुमिरो तेरा नाम।' बंदिश पूरिया धनाश्री में थी। इसके पहले कभी उन्होंने पूरी बंदिश के बोल न बताए थे, न उसके बाद ऐसा सुना गया। इसी सभा में उन्होंने नायकी कान्हड़ा भी गाया था। बोल थे— 'लट उलझी सुलझा जा बालम, हाथों में मेरे मेंहदी लगी है।' एक लंबे विहाग में इसका विस्तार हुआ था और फिर एक छोटे ख्याल के साथ इंटरवल हुआ था। इंटरवल के बाद पंडित जी फिर स्टेज पर आए। अचानक अंग्रेजी में बोले— 'नाऊ आई सिंग नायकी कान्हड़ा इन बागेश्वरी अंग'। पूरे वातावरण में हँसी के

फव्वारे छूट पड़े। मगर जैसे ही पंडित जी ने तान छोड़ी तो समूचा श्रोता वृंद उनके आलाप के सुरों के साथ लहर-बहर रहा था।

बहुतों को शायद पता न हो, उस्ताद अब्दुल करीम खां कर्नाटक के नहीं, उत्तर भारत के थे। संभवतः वे उत्तर प्रदेश के मुज़फ्फर नगर ज़िले के कस्बा 'कैराना' से चलकर कर्नाटक के उस भाग में जा बसे थे जो कर्नाटक-महाराष्ट्र बॉर्डर पर है। यह संभव है कि उत्तर प्रदेश में उन्हें उचित प्रश्रय नहीं मिला और वे कर्नाटक के किसी सम्पन्न व्यक्ति के सान्निध्य में आ गए जहां उन्हें रहन-सहन और संगीत-साधना के सम्मानजनक साधन मिले। वहीं 'किराना' घराना सुस्थापित हुआ। पं. भीमसेन जोशी आखिर किराना घराने से कैसे जुड़े? इसकी रोचक कहानी उनके बचपन में ले जाती है।

कर्नाटक के जिस गांव में वे पैदा हुए वहां ग्रामोफोन की एक दुकान पर उन्होंने एक गीत सुना जो राग बसंत के था। बोल थे— 'फगुवा बृज देखने को चली री'। इसे उस्ताद अब्दुल करीम खां ने गाया था। बालक भीमसेन पर उस गीत का ऐसा असर पड़ा कि सब कुछ भूलकर वे उसी गीत को रात-दिन गाने-गुनगुनाने लगे। गीत उन्हें कंठस्थ हो गया। फिर ऐसा भी समय आया कि वे बिना किसी को बताए संगीत-गुरु की तलाश में घर छोड़ कर भाग गए। बिना टिकट रेल यात्राएं कीं। एक बार पकड़े गए— गाना गाकर छूट भी गए। बम्बई, कोलकाता, ग्वालियर, रामपुर, अमृतसर, जलंधर गए। जहां जिससे भी सीखने का मौका मिला, सीखते रहे। इसी क्रम में वे जब जालंधर पहुंचे तो वहां हरवल्लभ संगीत समारोह में बड़े-बड़े उस्तादों को सुना। वहीं उन्हें विनायक राव पटवर्धन मिले। भीमसेन ने आग्रह करके उन्हें अपना गाना सुनाया, वही जो उन्हें कंठस्थ था— 'फगुवा बृज देखने को चली री'। सुनकर पटवर्धन उछल पड़े— 'अरे यह गाना तो तेरे घर के पास ही है। तू यहां क्यों भटक रहा है? उन्होंने बताया कि वह गाना उस्ताद अब्दुल करीम खां ने गाया है। उनसे सीखना तो अभी संभव न होगा लेकिन तुम्हारे घर के पास ही कुंदगोल गांव है जहां पं. रामभाऊ कुंद गोलकर उर्फ सवाई गंधर्व रहते हैं जो उस्ताद करीम खां साहब के शिष्य हैं। तुम उनसे सीखो।...' यह जानकर भीमसेन अपने घर लौट गए।

फिर वे कुंदगोल गांव गए। सवाई गंधर्व

से मिले। उनसे सीखने की इच्छा जाहिर की। सवाई गंधर्व ने कहा— अभी नहीं, 2 वर्ष बाद आना, अभी तुम्हारी आवाज़ में परिवर्तन आना बचा है। मगर भीमसेन जोशी नहीं लौटे। वहीं रह गए। सवाई गंधर्व की सेवा करने लगे। आखिरकार उनकी लगन देखकर 5 वर्ष बाद उनकी शिक्षा प्रारंभ हुई और प्रारंभ हुआ पं. भीमसेन जोशी का निर्माण। उनके पहले कार्यक्रम का आयोजन उनकी गुरु-बहन गंगूबाई हंगल के पति ने आयोजित किया। अपने गांव के धोबियों की कीर्तन मंडली में बैठकर भजन गाने वाले बालक भीमसेन ने भारतरत्न बनने तक की लंबी यात्रा तय की।

भारत के एक और महान वाग्गेयकार बालमुरली कृष्णा ने बताया कि हम दोनों की जब जुगलबंदी हुई तो हम दोनों बहुत प्रसन्न हुए क्योंकि हम दोनों एक दूजे की संगीत-शैलियों को अच्छे से जानते थे। मगर वे तो इतने मुतास्सिर हुए कि उन्होंने कसम ली कि अब जीवनपर्यंत मेरे अलावा किसी के साथ जुगलबंदी न करेंगे। कसम उन्होंने निभाई।

उन्होंने कई मशहूर फिल्मों के लिए गाया। लोगों को याद है वह फिल्म 'बसंत बहार', जो 1956 में बनी थी। संगीत निर्देशक शंकर जयकिशन के निर्देशन में गीत बना था— 'केतकी, जुही, गुलाब'... इस फिल्म में दो पात्र हैं— गायक। एक गायक दूसरे से प्रतियोगिता में हार जाता है। हारने वाले पात्र का गाना भी भीमसेन जोशी को गाना था। मन्ना डे की आवाज उसे पात्र के लिए थी जो जीतता है। मन्ना डे इतने महान गायक के लिए ऐसा सोच भी नहीं सकते थे। वे गाना गाने को तैयार न हो रहे थे। भीमसेन जोशी ने उन्हें समझाया— तुम असली जीवन में थोड़े ही मुझे हरा रहे हो? किसी तरह मन्ना डे माने और जो गाना रिकॉर्ड हुआ, वह अमर हो गया।

दूरदर्शन को दिए अपने लंबे इंटरव्यू में उन्होंने कहा था— 'मेरा क्या योगदान है, नहीं जानता, हां मेरे गुरु सवाई गंधर्व ने शास्त्रीय संगीत को आम लोगों तक पहुंचाया। इसमें कहीं मेरा भी छोटा-मोटा योगदान होगा, सो नहीं जानता। ऐसी विनम्रता को प्रणाम और ऐसी महानता को प्रणाम। वे किसी आकाश के नहीं, धरती के, जन...जन के दिलोदिमाग में गूंजते अनहद हैं।

159, आकाश दर्शन, अपा. मयूर विहार, फेज -I, दिल्ली-91, मो. 09868240906

‘रूम’ का अंतर्द्वंद्व और अंतर्विरोध

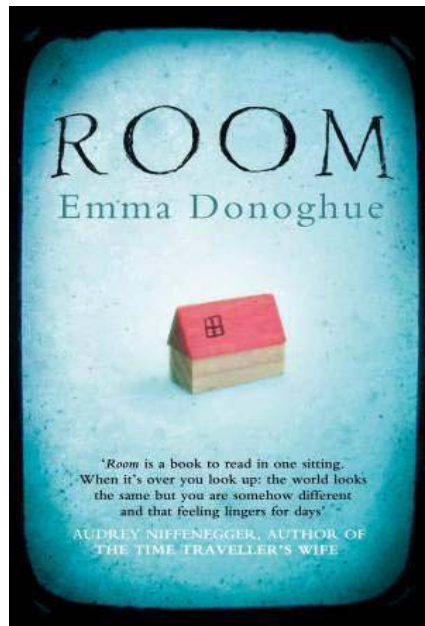
अनंत विजय

त

करीबन एकतालीस साल की आयरिश मूल की कनाडाई लेखिका एमा डोनोग का जब पैंतीस साल की उम्र में पहला उपन्यास ‘स्टर फ्राइ’ छपा तो उसकी खासी चर्चा हुई, लेखिका को प्रसिद्ध भी मिली। एमा डोनोग के पिता डेनिस डोनोग भी मशहूर आलोचक थे। अपने आठ भाई बहनों में से सबसे छोटी एमा डोनोग ने अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. करने के बाद कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी से पी-एच.डी. किया, विषय था—अठारहवीं शताब्दी के फिक्शन में औरत और मर्द के बीच दोस्ती और सम्बन्ध। कैम्ब्रिज के दिनों में एमा एक वूमन कॉन्फेरेटिव में रहा करती थीं, जहां की जिंदगी उनकी कहानी ‘द वेलकम’ में दिखाई देती है। पी-एच.डी. के दौरान लेखन की ओर झुकाव हुआ और फिर कहानी, नाटक और उपन्यास लिखे। 1994 में पहला उपन्यास ‘स्टर फ्राइ’ प्रकाशित हुआ, जिसमें एक युवा आयरिश लड़की अपनी सेक्सुअलिटी को एक्सप्लोर करती है। बेहद रोचक अंदाज में लिखे इस उपन्यास के प्रकाशन के एक साल बाद उनका दूसरा उपन्यास ‘हुड’ प्रकाशित हुआ जिससे उन्हें खासी शोहरत मिली। लेकिन पिछले साल छपा उपन्यास—‘रूम’ ने उन्हें अमेरिका और कनाडा के लेखकों की अग्रिम पंक्ति में खड़ा कर दिया। एमा का यह उपन्यास कई हफ्तों तक अमेरिका और कनाडा के बेस्ट सेलर की सूची में शीर्ष स्थान पर रहा था।

चंद साल पहले की बात है, ऑस्ट्रिया से एक ऐसी खबर आई थी जिसने पूरे विश्व को सन्न कर दिया था। एक ऐसी क्रामक स्टोरी, जो दुनिभार के अखबारों और न्यूज चैनलों में कई दिनों तक सुर्खियां बनी। ऑस्ट्रिया

का एक पापी पिता जोश फ्रिट्ज ने अपनी बेटी एलिजाबेटा को चौबीस साल तक बंधक बनाकर रखा। इन चौबीस साल के दौरान वो पापी बाप अपनी बेटी के साथ लगातार बलात्कार करता रहा। इसका नतीजा यह हुआ कि उसकी अपनी बेटी से सात बच्चे भी पैदा हुए, जिसे वह अपनी कैद में रखता था। जब पुलिस ने जोश फ्रिट्ज को गिरफ्तार कर उसकी बेटी और बच्चों को आजाद कराया था तो पूरे विश्व में हड़कंप मच गया था। परिवार और बाप-बेटी के रिश्तों में यह एक ऐसा पाप था जिसके लिए कोई भी सजा मामूली थी। यह एक साधारण अपराध की कहानी नहीं थी, बल्कि यह एक ऐसे जुर्म की दास्तां थी जिसने दुनियाभर के लोगों में पापी पिता के खिलाफ घृणा भर दी। जब एमा डोनोग का उपन्यास ‘रूम’ बुकर पुरस्कार के लिए शॉर्ट लिस्ट हुआ तो पश्चिमी देशों के अखबारों ने एमा डोनोग पर यह आरोप लगाया कि उसने अपने उपन्यास



का प्लॉट जोश फ्रिट्ज की जुर्म की कहानी से उठाया है। उन पर यह भी आरोप लगा कि जोश फ्रिट्ज की कहानी में थोड़ा बहुत बदलाव करते हुए लेखिका ने उसे अपनी शैली में पेश कर दिया है। एमा समीक्षकों और साथी लेखकों के इन आरोपों से जरा भी विचलित नहीं हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि उसे उपन्यास लिखते वक्त इस बात का अंदाजा था कि उस पर इस तरह के आरोप लग सकते हैं, लिहाजा उसने उपन्यास के अंत में उसके पात्र से इसका जवाब दिलवा दिया। एक जगह जब एक वकील जैक की मां को सलाह देता है कि वो अपनी कहानी लिख दे तो वह जवाब देती है—आप क्या चाहते हैं कोई हमें बेचे उससे पहले हम खुद ही अपने आप को बेच दें।

एमा डोनोग पर चाहे जो भी आरोप लगे हों लेकिन उनका यह उपन्यास कई हफ्तों तक बेस्ट सेलर की सूची में बना रहा और बुकर के लिए नामांकित होने के पहले और बाद में भी उनके उपन्यास ‘रूम’ की जमकर चर्चा हुई, बल्कि जबरदस्त बिक्री भी हुई। दरअसल यह कहानी एक पांच साल के बच्चे जैक की है, जिसकी मां को उन्नीस साल की उम्र में ओल्ड निक नाम का एक शख्स अगवा कर बंधक बना लेता है, ग्यारह वर्ग फुट के छोटे से कमरे में। लेखिका जिसको ‘रूम’ कहती है, दसअसल वह एक कैदखाना है, जहां न तो बाहरी दुनिया से संपर्क का कोई साधन है और ना ही कोई रास्ता, जहां से बाहर की दुनिया को देखा जा सके। ओल्ड निक रोज रात को उस महिला के साथ बलात्कार करता है और वह चुपचाप उसको सहन करती है। लेकिन तकरीबन दो साल बाद जब जैक पैदा होता है तो उसकी दुनिया थोड़ी बदल

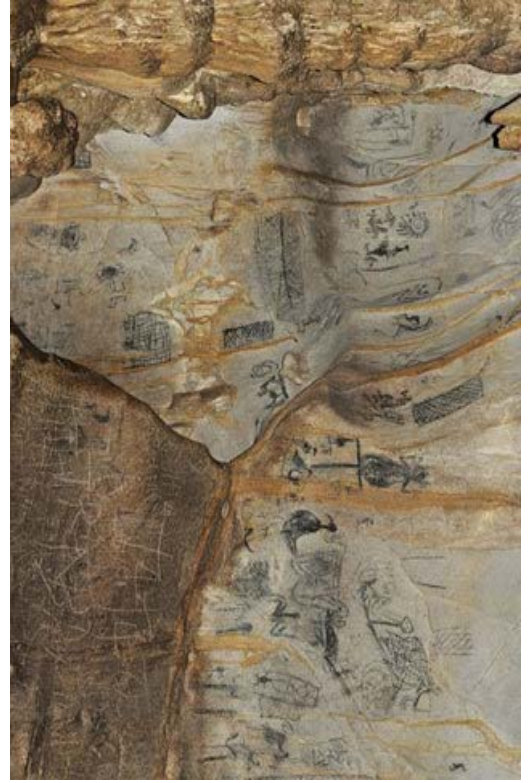
जाती है। यह पूरा उपन्यास जैक के इर्द-गिर्द ही चलता है। जैक को हर रोज अपनी मां के साथ बलात्कार की जानकारी नहीं होती है क्योंकि ओल्ड निक जब रात में कमरे में आता है तो मां अपने बेटे को अल्मारी में सुलाकर बंद कर देती है। उसे इस बात का एहसास नहीं होने देती कि उसके ऊपर हर रोज क्या गुरजती है।

जैक के लिए ग्यारह बाइ ग्यारह का यह कमरा मां के गर्भ जैसा है जहां वह बेहद सुरक्षित तो है ही। उसे लगता है कि बाहर कोई दुनिया है ही नहीं और उसकी मां प्रयासपूर्वक उसे यही समझाती भी रहती है। मां बेटे जिस छोटे से कमरे में रहते हैं वहां दरी, बेड, वॉर्डरोब, टी.वी. लैंप सब कुछ मौजूद है। टी.वी. पर जब मां-बेटे बाहर की दुनिया को देखते हैं तो जैक की मां उसे यह समझा देती है कि वह सब कुछ नकली और काल्पनिक है। टी.वी. पर दिखने वाली कहानियां दूसरी दुनिया की कहानी है। वह अपने बेटे की परवरिश इस तरह से करती हैं कि जैक यह समझता है कि दुनिया तो सिर्फ रूम के अंदर ही है जैसा कि ऊपर भी कहा जा चुका है कि सारी कहानी जैक के इर्द-गिर्द ही चलती है और लेखिका ने भाषा भी पांच साल के बच्चे जैसा ही चुना है। एमा डोनोग पर आरोप लगाने वाले यह भूल जाते हैं कि इस पूरे उपन्यास में मां का नाम तक किसी को पता नहीं चलता। अगर लेखिका जोश फ्रिट्ज की कहानी को भुनाना चाहती तो केंद्रीय पात्र वह महिला होती ना कि उसका पांच साल का बेटा जैक। अगर युवा महिला, जिसे सात साल तक कमरे में बंद कर हर रोज बलात्कार किया जाता है, को केंद्र में रखकर लिखा जाता तो इस उपन्यास की बिक्री और भी ज्यादा हो सकती थी। वजह यह कि उसमें जहालत और दर्द के अलावा सेक्स प्रसंग भी बहुतायत में होते। यहां तो पूरे उपन्यास में महिला का नाम तक नहीं पता चलता, वह तो सिर्फ मां है जिसकी पूरी दुनिया उसका बेटा जैक है। एमा बंद कमरे में एक मां के दर्द को बगैर लिखे इस तरह से पेश करती है और पाठकों को चुनौती देती है कि वह जो नहीं लिखा गया है उसे महसूस करे। यह शैली ही इस उपन्यास की खूबसूरती भी है और ताकत भी।

अचानक एक दिन कहानी में जबरदस्त

ट्विस्ट आता है। जैक की मां को एहसास होता है कि ओल्ड निक उसके बेटे में भी रुचि लेने लगा है, उसकी बुरी नजर उसके बेटे पर भी है। यह एहसास होते ही उसके दिमाग में खतरे की घंटी बजती है। आसन्न खतरे को भांपते हुए वह कैदखाने से निकल भागने की योजना बनाती है और उसमें कामयाब भी हो जाती है। जब वह और उसका बेटा जैक कैद से आजाद होकर बाहर की दुनिया में आते हैं तो उपन्यास की कहानी में फिर से एक जबरदस्त और नाटकीय मोड़ आता है। कहानी अचानक एक बंद कमरे से निकलकर दुनियादारी की आगोश में समा जाती है जहां असीमित आकाश है, भागती दौड़ती जिंदगी है और जैक के ढेर सारे सवाल हैं। जैक की बचपन से कंडीशनिंग इस तरह से हुई है कि उसके लिए तो सिर्फ उसकी मां हकीकत है बाकी सब कुछ काल्पनिक। लेकिन जब वह बाहर की दुनिया को देखता है तो उसे जबरदस्त झटका लगता है। वह यह समझ ही नहीं पाता है कि दूसरी दुनिया में कैसे रह पाएगा। जब उसकी मां उसके अलावा अन्य लोगों से प्यार भरी बातें करती है या और लोगों को समय देती है तो जैक खिन्न हो जाता है। जैक के खिन्न होने की वजह है वह बाल मनोविज्ञान जिसमें उसकी मां सिर्फ उसकी है लेकिन बाहर की दुनिया में तो वह दूसरे से भी बातें करती है, दूसरों को भी समय देती है। जैक के द्वंद का चित्रण करते हुए भी एमा डोनोग ने कहानी को बेहद संतुलित बनाए रखा है और पाठकों को निराश नहीं किया।

लेखिका यहां भी जैक की आजाद और मासूम नजर से दुनिया को देखना और महसूस करना शुरू कर देती है। जैक और उसकी मां बाहर की दुनिया को देखते-समझते हुए उसमें खुद को ढालने की भी कोशिश करते हैं। हर पल कहानी में उतार-चढ़ाव आता रहता है। इन पलों को चित्रित करते हुए एमा इमोशंस का इस्तेमाल इस तरह से करती है कि कहानी पाठकों को बांधे रखती है। इस कहानी में मां-बेटे के बीच का एक ऐसा प्यार और अटूट रिश्ता सामने आता है जो इस रिश्ते को भी एक नया आयाम तो देता ही है, संभावनाओं



के नए द्वार भी खोलता है। उपन्यास के अंत में जैक एक बार फिर से वापस उस रूम में जाता है और अपने सामान को गुडबॉय कहता है—गुडबॉय फ्लोर, गुडबॉय वॉर्डरोब आदि-आदि। यहां भी लेखिका ने जैक के हवाले से बाल-मन की संवेदना को एक नई ऊंचाई दी है।

अगर आप इस किताब को पढ़ेंगे तो लगेगा कि कहानी नहीं, बल्कि उसके कहने की शैली और मां-बेटे के प्यार का, जो एक बेहतरीन नमूना पेश किया गया है, वही इसकी ताकत और हासिल है और भरपूर बिक्री का आधार भी। लोग गलतफहमी में इसे क्राइम स्टोरी समझ रहे हैं। दरअसल अगर हम वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में देखें तो यह क्राइम स्टोरी न होकर मां-बेटे के रिश्ते की मजबूती की एक नई इबारत है। कहीं-कहीं इसको पढ़ते हुए पाठकों को तकलीफ होती है। लेकिन अंततः यह कहानी संतोष देती है। यही इस उपन्यास की विशेषता भी है और उत्कर्ष भी।

रूम/ एमा डोनोग/ पिकाडोर/ मूल्य : ₹ 499

अनंत विजय, 321-बी, शिप्रा सनसिटी, इंदिरापुरम,
गाजियाबाद-201010, (उ.प्र.), मो.09871697248,
ई-मेल : anant.ibn@gmail.com